मङ्गल शासन

भाग: 1

प्रकाशक:
मङ्गल
विद्यापीठ
तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६ (अलीगढ़) उत्तरप्रदेश

ॐ

॥ नमः श्री सिद्धेभ्यः ॥

मंगल शासन

(प्रथम भाग)

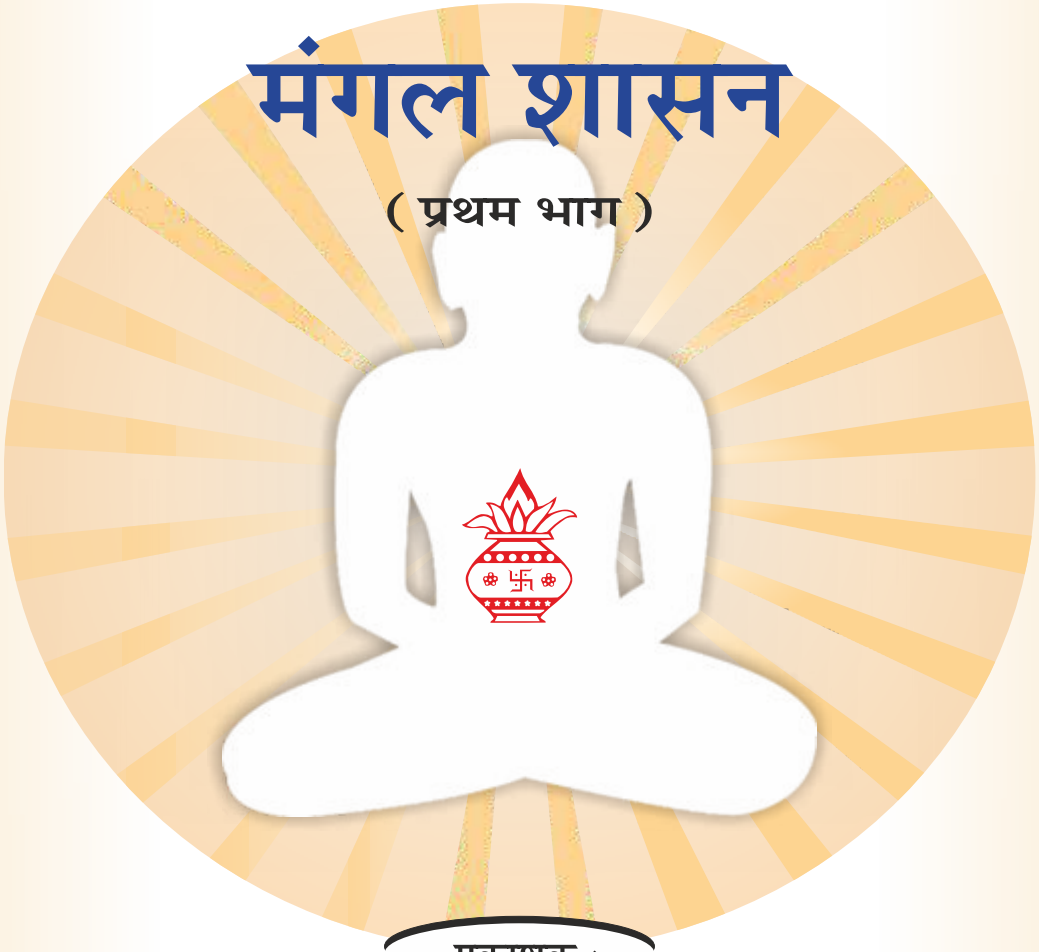

प्रकाशक :

मङ्गल विद्यापीठ

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

mob. : 91-8191900042, e-mail : mangalvidyapeeth@gmail.com

हमारे जीवनशिल्पी
धर्मपिता
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के कर-कमलों में
सविनय समर्पित!

हम हैं आपके,
नन्हें-मुन्नें ज्ञायक

प्रस्तावना

जैनदर्शन में तीर्थंकर, धर्म के संस्थापक नहीं होते, वे तो प्रवर्तक होते हैं, प्रचारक होते हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर, शासननायक भगवान महावीर तक यह प्रवाह निरंतर चलता रहा। महावीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् कुछ केवलियों और श्रुतकेवलियों ने इसी शृंखला को आगे बढ़ाया। विशेष ज्ञानियों का अभाव होने पर, मुनि परंपरा में यह विकल्प हुआ कि पंचम काल के अंतपर्यंत यदि जिनशासन को सुरक्षित करना है, तो सत्यमार्ग को जन-जन तक पहुँचाना होगा और इसके लिए जिनागम को लिपिबद्ध करना होगा। इसीलिए पुष्पदन्ताचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी महर्षियों ने समय-समय पर वीतरागता के पोषक ग्रन्थों के लेखन का दुरूह कार्य किया।

काल के ओघ से जब यह वाणी, मंदबुद्धियों को समझने में दुर्गम हुई, तब उन ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी गयीं। वीतरागी संतों का भी विरह-सा होता देखकर, कविवर पण्डित बनारसीदासजी, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जैसे समर्थ विद्वानों ने उन टीकाओं का सरलीकरण किया। इसे भी सरल-सुगम करने हेतु आज के परिप्रेक्ष्य में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरलतम शब्दों में 45 वर्षों तक लगातार अमृतवर्षा की, जिससे प्रेरित होकर आज हजारों विद्वानों की सृष्टि हुई। हमारे ऊपर इन सबके अनंत उपकार हैं।

मङ्गल विद्यापीठ को यह विकल्प आया कि विद्वानों का योग सबको हो, यह जरूरी नहीं है। आज विषयों की अन्धी भाग-दौड़ के इस काल में समय की अनुकूलता मिलना दुर्लभ है। बीमारी आदि से ग्रस्त होने के कारण भी साधारणजन शास्त्र-सभाओं में जाकर, स्वाध्याय का लाभ नहीं ले सकते। किसी सुयोग से स्वाध्याय के समय की अनुकूलता भी हो तथा स्वास्थ्य भी ठीक हो, पर चारों अनुयोग के ज्ञाता विद्वान की प्राप्ति दुर्लभ है।

मङ्गल विद्यापीठ ने निर्णय किया कि ऐसा कोई सर्वजनहिताय उपक्रम

प्रारम्भ किया जाए; जिसमें लघु वय से ही मुमुक्षुता को योग्य पोषण मिलता रहे। देश -विदेश के किसी भी कोने में बैठकर, कोई भी उपासक, समस्त विषयों का सांगोपांग अध्ययन कर सके और उसकी समय-समय पर परीक्षा भी होती रहे। परीक्षा के लिए लिखित या On-Line का भी विकल्प रहे। साथ-साथ समय-समय पर श्रोताओं की जिज्ञासानुसार, नियमित अथवा प्रासंगिक कक्षाओं का Video Conference द्वारा भी आयोजन हो।

मङ्गल विद्यापीठ का यह भी भाव है कि एक **'मङ्गल जिज्ञासा'** उपक्रम चले, जिसमें समय-समय पर श्रोताओं से प्रश्न पूछे जाएँ और उत्तरदाताओं को पुरस्कृत भी किया जाए। साथ ही एक **'मङ्गल समाधान'** उपक्रम चले, जिसमें श्रोताओं की जिज्ञासाओं का तत्काल समाधान मिलने का यह केन्द्रबिंदु बने, जिसमें किसी भी अनुयोग की शंकाओं का निराकरण, आगम तथा युक्ति से हमारी विद्वत् मंडली के सदस्यों द्वारा किया जाए। हम चाहते हैं कि ज्ञान के प्रचार-प्रसार के अभियान के इस यज्ञ में आप भी हमारे सहभागी बनें।

इन भागों को बनाने में हमने पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का सहयोग लिया है। हम उसके लिए सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
	मंगल शृंगार	1
1	देव-स्तुति	2
2	आत्मा और परमात्मा	6
3	सात-तत्त्व	9
4	जैन गृहस्थ के आवश्यक	13
5	कर्म-सिद्धान्त	16
6	त्यौहार और पर्व	22
7	तीर्थंकर पार्श्वनाथ	27
8	अकृत्रिम जिन-चैत्यालय	33
9	अपनी वैभवगाथा	36
10	जैनशासन का वैभवशाली इतिहास	40
11	बारह भावना	45
	अमूल्य तत्त्व विचार	49

मंगल शृंगार

मस्तक का भूषण गुरु आज्ञा, चूड़ामणि तो रागी मानें।
सत्-शास्त्र श्रवण है कर्णों का, कुण्डल तो अज्ञानी जानें ॥1॥
हीरों का हार तो व्यर्थ कण्ठ में, सुगुणों की माला भूषण है।
कर पात्र-दान से शोभित हों, कंगन हथफूल तो दूषण हैं ॥2॥
जो घड़ी हाथ में बँधी हुई, वह घड़ी यहीं रह जाएगी।
जो घड़ी आत्म-हित में लागी, वह कर्म बंध विनशाएगी ॥3॥
जो नथनी नाक में पड़ी हुई, वह अन्तर राग बताती है।
श्वास-श्वास में प्रभु सुमिरन से, नासिका शोभा पाती है ॥4॥
होंठों की यह कृत्रिम लाली, पापों की लाली लाएगी।
जिसमें बँधकर तेरी आत्मा, भव-भव के दुःख उठाएगी ॥5॥
ओंठों पर हँसी शुभ्र होवे, गुणियों को लखते ही भाई।
ये ओंठ तभी होते शोभित, तत्त्वों की चर्चा मुख आई ॥6॥
क्रीम और पाउडर मुख को, उज्ज्वल नहिं, मलिन बनाता है।
हो साम्यभाव जिस चेहरे पर, वह चेहरा शोभा पाता है ॥7॥
आँखों में काजल शील का हो, अरु लज्जा पाप कर्म से हो।
स्वामी का रूप बसा होवे, अरु नाता केवल धर्म से हो ॥8॥
जो कमर करधनी से सुन्दर, माने उस सम है मूढ नहीं।
जो कमर ध्यान में कसी गई, उससे सुन्दर है नहीं कहीं ॥9॥
पैरों में पायल ध्वनि करतीं, वे अन्तर द्वन्द बताती हैं।
जो चरण, चरण की ओर बढे, उनके सम्मुख शरमाती हैं ॥10॥
जड़ वस्त्रों से तो तन सुन्दर, रागी लोगों को दिखता है।
पर सच पूछो उनके अन्दर, आतम का रूप सिसकता है ॥11॥
जब बाह्य मुमुक्षुरूप धार, ज्ञानाम्बर को धारण करता।
अत्यन्त मलिन रागाम्बर तज, सुन्दर शिवरूप प्रकट करता ॥12॥
एकत्व ज्ञानमय ध्रुवस्वभाव ही, एकमात्र सुन्दर जग में।
जिसकी परिणति उसमें ठहरे, वह स्वयं विचरती शिवमग में ॥13॥
वह समवसरण में सिंहासन पर, गगन मध्य शोभित होता।
रत्नत्रय के भूषण पहने, अपनी प्रभुता को प्रगटाता ॥14॥
पर नहीं यहाँ भी इतिश्री, योगों को तज स्थिर होता।
अरु एक समय में सिद्ध हुआ, लोकाग्र जाय अविचल होता ॥15॥

पाठ 1

देव-स्तुति

पण्डित दौलतरामजी कृत

(दोहा)

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस विहीन ॥1 ॥

(पद्धरि छन्द)

जय वीतराग विज्ञानपूर, जय मोहतिमिर को हरन सूर।
जय ज्ञान अनन्तानन्त धार, दृगसुख वीरजमण्डित अपार ॥2 ॥

जय परमशांत मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।
भवि भागन वच जोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय ॥3 ॥

तुम गुण चिन्तत निज पर विवेक, प्रगटै विघटै आपद अनेक।
तुम जगभूषण दूषणवियुक्त, सब महिमायुक्त विकल्पमुक्त ॥4 ॥

अविरुद्ध, शुद्ध, चेतन-स्वरूप, परमात्म परम पावन अनूप।
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन, स्वाभाविक परिणतिमय अछीन ॥5 ॥

अष्टादश दोष विमुक्त धीर, स्वचतुष्टयमय राजत गम्भीर।
मुनिगणधरादि सेवत महन्त, नव केवल लब्धि रमा धरन्त ॥6 ॥

तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जाहिं जैहैं सदीव।
भवसागर में दुख छार वारि, तारन को और न आप टारि ॥7 ॥

यह लखि निज दुखगद हरणकाज, तुम ही निमित्त कारण इलाज।
जाने तातैं मैं शरण आय, उचरों निज दुख जो चिर लहाय ॥8 ॥

मैं भ्रम्यो अपनयो विसरि आप, अपनाए विधिफल पुण्य-पाप।
निज को पर को करता पिछान, पर में अनिष्टता इष्ट ठान ॥9 ॥

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग, मृगतृष्णा जानि वारि।
तन-परिणति में आपो चितार, कबहूँ न अनुभवो स्वपदसार ॥10 ॥

तुमको बिन जाने जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु, नारक, नर, सुरगति मँझार, भव धर-धर मर्यौ अनन्त बार ॥11॥

अब काललब्धि बलतैं दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शान्त भयो मिटि सकल द्वंद, चाख्यो स्वातम-रस दुख-निकन्द ॥12॥

तातैं अब ऐसी करहु नाथ, बिछुरैं न कभी तुव चरण साथ।
तुम गुणगण को नहिं छेव देव, जग तारन को तुव विरद एव ॥13॥

आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आप में आप लीन, सो करो होउँ ज्यों निजाधीन ॥14॥

मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।
मुझ कारज के कारण सु आप, शिव करहु हरहु मम मोहताप ॥15॥

शशि शांतिकरन तपहरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पीयूष ज्यों रोग जाय, त्यों तुम अनुभवतैं भव नशाय ॥16॥

त्रिभुवन तिहुँकाल मँझार कोय, नहिं तुम बिन निज सुखदाय होय।
मो उर यह निश्चय भयो आज, दुख-जलधि उतारन तुम जिहाज ॥17॥

(दोहा)

तुम गुणगणमणि गणपति, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमहूँ त्रियोग सँभार ॥18॥

जिनेन्द्रदेव की स्तुति करते हुए, पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव! आप, समस्त ज्ञेयों (लोकालोक) के ज्ञाता होने पर भी, अपने आत्मा के आनन्द में लीन रहते हैं; चार घाति-कर्म हैं निमित्त जिनके, ऐसे मोह-राग-द्वेष, अज्ञान आदि विकारों से रहित हैं; हे प्रभो! आपकी जय हो ॥1॥

आप, मोह-राग-द्वेषरूप अन्धकार का नाश करनेवाले वीतरागी सूर्य हैं। अनन्त ज्ञान को धारण करनेवाले हैं; अत: पूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) हैं तथा अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से भी सुशोभित हैं। हे प्रभो! आपकी जय हो ॥2॥

भव्य जीव आपकी परम शान्तमुद्रा को देखकर, अपने आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने का लक्ष्य करते हैं। भव्य जीवों के भाग्य से और वचनयोग से, आपकी दिव्यध्वनि होती है; उसको श्रवण कर, भव्य जीवों का भ्रम नष्ट हो जाता है ॥3॥

आपके गुणों का चिन्तन करने से स्व और पर का भेदविज्ञान हो जाता है और मिथ्यात्वदशा में

होनेवाली अनेक आपत्तियाँ (विकार) नष्ट हो जाती हैं। आप समस्त दोषों से रहित हैं, सब विकल्पों से मुक्त हैं, सर्व प्रकार की महिमा धारण करनेवाले हैं और जगत के भूषण (सुशोभित करनेवाले) हैं ॥4॥

हे परमात्मा! आप समस्त उपमाओं से रहित, परम पवित्र, शुद्ध, चेतन (ज्ञान-दर्शन) मय हैं। आपमें किसी भी प्रकार का विरोधभाव नहीं है। आपने शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के विकारीभावों का अभाव कर दिया है और स्वभावभाव से युक्त हो गए हैं; अत: कभी भी क्षीणदशा को प्राप्त होनेवाले नहीं हैं ॥5॥

आप अठारह दोषों से रहित हैं और अनन्त चतुष्टययुक्त विराजमान हैं। केवलज्ञानादि नौ प्रकार के क्षायिकभावों को धारण करनेवाले होने से, महा मुनि और गणधर देवादि आपकी सेवा करते हैं ॥6॥

आपके बताए मार्ग पर चलकर, अनन्त जीव मुक्त हो गए हैं, हो रहे हैं और सदाकाल होते रहेंगे। इस संसाररूपी समुद्र में दु:खरूपी अथाह खारा पानी भरा हुआ है। आपको छोड़कर और कोई भी इससे पार नहीं उतार सकता है ॥7॥

इस भयंकर दु:ख को दूर करने में निमित्तकारण आप ही हैं, ऐसा जानकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और अनन्त काल से जो दु:ख पाया है, उसे अब आपसे कह रहा हूँ ॥8॥

जिस प्रकार वैद्य के पास जाकर रुग्ण चिन्तामुक्त होता है...

मैं अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को भूलकर, अपने आप ही संसार में भ्रमण कर रहा हूँ और मैंने कर्मों के फल, पुण्य और पाप को अपना लिया है। अपने को पर का कर्ता मान लिया है और अपना कर्ता, पर को मान लिया है; पर-पदार्थों में से ही कुछ को इष्ट मान लिया है और कुछ को अनिष्ट मान लिया है। परिणामस्वरूप अज्ञान को धारण करके स्वयं ही आकुलित हुआ हूँ, जिस प्रकार कि हिरण, मृग-तृष्णा-वश बालू को पानी समझकर, अपने अज्ञान से ही दु:खी होता है। शरीर की दशा को ही अपनी दशा मानकर मैंने अपने पद (आत्म-स्वभाव) का अनुभव नहीं किया ॥9-10॥

हे जिनेश! आपको पहिचाने बिना जो दु:ख मैंने पाये हैं, उन्हें आप जानते ही हैं। तिर्यंचगति, नरकगति, मनुष्यगति और देवगति में उत्पन्न होकर, अनन्त बार मरण किया है ॥11॥

अब काललब्धि के आने पर, आपके दर्शन प्राप्त हुए हैं, इससे मुझे बहुत ही प्रसन्नता है। मेरा अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गया है, मेरा मन शान्त हो गया है और मैंने दु:खों का नाश करनेवाली आत्मानुभूति को प्राप्त कर लिया है ॥12॥

अत: हे नाथ! अब ऐसा करो कि जिससे आपके चरणों के साथ का वियोग न हो। तात्पर्य यह है कि जिस मार्ग (आचरण) द्वारा आप पूर्ण सुखी हुए हैं, मैं भी वही प्राप्त करूँ। हे देव! आपके गुणों का तो कोई अन्त नहीं है और संसार से पार उतारने का तो मानो आपका विरद ही है ॥13॥

आत्मा का अहित करनेवाली पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लीनता और कषायें हैं। हे प्रभो! मैं चाहता हूँ कि इनकी ओर मेरा झुकाव न हो। मैं तो अपने में ही लीन रहूँ, जिससे मैं पूर्ण स्वाधीन हो जाऊँ ॥14॥

मेरे हृदय में और कोई इच्छा नहीं है, बस एक रत्नत्रय निधि ही पाना चाहता हूँ। मेरे हितरूपी कार्य के निमित्तकारण आप ही हैं। मेरा मोह-ताप नष्ट होकर कल्याण हो, यही भावना है ॥15॥

...उसी प्रकार भगवान की शरण में जाकर भक्त चिन्तामुक्त होता है।

जैसे - चन्द्रमा, स्वयमेव गर्मी कम करके, शीतलता प्रदान करता है, उसी प्रकार आपकी स्तुति करने से स्वयं ही आनन्द प्राप्त होता है। जैसे - अमृत के पीने से रोग चला जाता है; उसी प्रकार आपका अनुभव करने से संसाररूपी रोग चला जाता है ॥16॥

तीनों लोकों में और तीनों कालों में आपके समान, सुखदायक (सन्मार्ग-दर्शक) और कोई नहीं है। ऐसा आज मुझे निश्चय हो गया है कि आप ही दु:खरूपी समुद्र से पार उतारनेवाले जहाज हो ॥17॥

आपके गुणोंरूपी मणियों को गिनने में, गणधरदेव भी समर्थ नहीं हैं, तो फिर मैं (दौलतराम) अल्पबुद्धि, उनका वर्णन किस प्रकार कर सकता हूँ? अत: मैं, मन, वचन और काय सँभाल कर, आपको बार-बार नमन करता हूँ ॥18॥

प्रश्न -

1. उक्त स्तुति में से कोई दो छन्द, जो आपको रुचिकर लगे हों, लिखिए तथा रुचिकर होने का कारण भी बताइए।

पाठ 2

आत्मा और परमात्मा

मुनिराज योगीन्दुदेव

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

अपभ्रंश के महाकवि अध्यात्मवेत्ता योगीन्दुदेव के जीवन के बारे में विशेष जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं है। उनके नाम का भी कई तरह से उल्लेख मिलता है, जैसे - योगीन्दु, योगीन्द्र। पर अपभ्रंश के जोइन्दु का संस्कृतानुवाद योगीन्दु ठीक बैठता है; योगीन्द्र नहीं।

योगीन्दु के समय के बारे में भी विभिन्न मत हैं। इनका काल छठवीं शताब्दी से लेकर, ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जाता है।

आपके ग्रन्थों पर आचार्य कुन्दकुन्द का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। योगीन्दुदेव ने, कुन्दकुन्द से बहुत कुछ लिया है। पूज्यपाद के समाधिशतक और योगीन्दु के परमात्मप्रकाश में भी घनिष्ठ समानता दिखाई देती है।

उनके द्वारा बनाए गए परमात्मप्रकाश (परमप्पयासु) और योगसार (जोगसारु) ही उनकी कीर्ति के अक्षय भण्डार हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने अध्यात्म के गूढ़ तत्त्वों को सहज और सरल लोक-भाषा में जनता के समक्ष रखा है। प्रस्तुत पाठ उक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

आत्मा और परमात्मा

प्रभाकर (शिष्य) - हे गुरुदेव! आत्मा और परमात्मा का स्वरूप क्या है? कृपाकर समझाइए; क्योंकि कल आपने कहा था कि यह आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर दुःखी हो रहा है।

योगीन्दुदेव - हे प्रभाकर भट्ट! आत्मा को समझने की इच्छा तुम जैसे मुमुक्षु को ही होती है। जिसने चेतनस्वरूप आत्मा की बात, प्रसन्नचित्त से सुनी, वह अल्पकाल में ही परमात्मपद को प्राप्त करेगा। आत्मज्ञान के समान दूसरा कोई सार नहीं है।

ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व को ही आत्मा कहते हैं। वह अवस्था की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है:-

1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा।

प्रभाकर – बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

योगीन्दुदेव – शरीर को, आत्मा तथा अन्य पदार्थों और रागादि में अपनापन माननेवाला या शरीर और आत्मा को एक माननेवाला जीव ही बहिरात्मा है। वह अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) है।

आत्मा को छोड़कर, अन्य बाह्यपदार्थों में आत्मपन (अपनापन) मानने के कारण ही यह बहिरात्मा कहलाता है। अनादि काल से यह आत्मा, शरीर की उत्पत्ति में ही अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में ही अपना नाश तथा शरीर से सम्बन्ध रखनेवालों को अपना मानता आ रहा है। जब तक यह भूल न निकले, तब तक यह जीव, बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि रहता है।

प्रभाकर – 'बहिरात्मपन छोड़ना चाहिए' यह तो ठीक पर..... ।

योगीन्दुदेव – बहिरात्मपन छोड़कर, अन्तरात्मा बनना चाहिए।

जो व्यक्ति, भेद-विज्ञान के बल से आत्मा को देहादि से भिन्न, ज्ञान और आनन्दस्वभावी जानता है, मानता है और अनुभव करता है, वह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा ही अन्तरात्मा है। आत्मा में ही आत्मपन अर्थात् अपनापन मानने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी अपनेपन की मान्यता छोड़ देने के कारण ही वह अन्तरात्मा कहलाता है। अन्तरात्मा, तीन प्रकार के होते हैं —

1. उत्तम अन्तरात्मा, 2. मध्यम अन्तरात्मा, 3. जघन्य अन्तरात्मा।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित, उत्कृष्ट शुद्धोपयोगी क्षीणकषाय मुनि (बारहवें गुणस्थानवर्ती), उत्तम अन्तरात्मा हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थानवर्ती), जघन्य अन्तरात्मा हैं। उक्त दोनों की मध्यदशावर्ती देशव्रती श्रावक और मुनिराज (पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती), मध्यम अन्तरात्मा हैं।

प्रभाकर – अन्तरात्मा बनने से लाभ क्या है ?

योगीन्दुदेव – यही अन्तरात्मा गृहस्थावस्था त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप मुनि –अवस्था धारण कर, निज स्वभाव साधन द्वारा, परमात्मपद प्राप्त करता है अर्थात् परमात्मा बन जाता है और इसके अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रकट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यही अन्तरात्मा, अपने पुरुषार्थ द्वारा आगे बढकर, परमात्मा बनता है।

प्रभाकर – परमात्मा बनने से क्या लाभ है ?

योगीन्दुदेव – प्रत्येक आत्मा सुखी होना चाहता है। परमात्मा पूर्ण निराकुल होने से अनन्त सुखी हैं। परमात्मा दो प्रकार के होते हैं— (1) सकल परमात्मा और (2) निकल परमात्मा।

चार घाति-कर्मों का अभाव करनेवाले श्री अरहन्त भगवान को शरीरसहित होने से, सकल परमात्मा कहते हैं और कर्मों से रहित, सिद्ध भगवान को शरीररहित होने से, निकल परमात्मा कहते हैं।

बहिरात्मा, संसारमार्गी होने से बहिरात्मपन सर्वथा हेय है। अन्तरात्मा, मुक्तिमार्ग का पथिक है; अत: अन्तरात्मपन कथंचित् उपादेय है तथा परमात्मपन, अतीन्द्रिय सुखमय होने से, सर्वथा उपादेय है।

अत: सबको पुरुषार्थपूर्वक बहिरात्मपन छोड़कर, अन्तरात्मा बनकर, परमात्मा बनने की भावना करनी चाहिए।

प्रश्न –

1. आत्मा किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? बहिरात्मा का स्वरूप लिखिए।
2. अन्तरात्मा का लक्षण और भेद स्पष्ट कीजिए।
3. परमात्मा किसे कहते हैं ? सकल व निकल परमात्मा को स्पष्ट कीजिए।
4. मुनिराज योगीन्दु के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

झूठे हैं जग के नाते-रिश्ते

जिस सीता को पाने के लिए साधनविहीन होते हुए भी राम ने जंगल में साधन जुटाकर उस त्रिखंड चक्रवर्ती अजेय रावण से युद्ध करके उसे नष्ट कर सीता को प्राप्त किया, उसी प्राणप्रिया सीता को लोकापवाद के भय से भयानक जंगल में छुड़वा दिया।

सुकौशल की माता ने पुत्र के मुनि बन जाने से जिस पुत्र के वियोग में दु:खी होकर प्राण छोड़ दिए, उसी पुत्र को अगले भव में सिंहनी बनकर खाया। ये हैं संसार के नाते रिश्तों की दशा!

पाठ 3

सात-तत्त्व

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम्॥

कम लिखकर भी अत्यधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैनसमाज जितना अधिक परिचित है, उनके जीवन परिचय से उतना ही अपरिचित भी है।

आचार्य उमास्वामी, कुन्दकुन्दाचार्य के पट्टशिष्य थे तथा विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतभूमि को पवित्र कर रहे थे।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता और सम्मान प्राप्त है। जो महत्त्व वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का माना जाता है, वही महत्त्व जैनपरम्परा में गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है। इसका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है। यह संस्कृतभाषा का सर्व प्रथम जैनग्रन्थ है।

यह ग्रन्थराज, जैनसमाज द्वारा संचालित सभी परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित है और सारे भारतवर्ष के जैन-विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

प्रस्तुत अंश तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखा गया है।

सात-तत्त्व

प्रवचनकार – संसार में समस्त प्राणी दु:खी दिखाई देते हैं और वे दु:ख से बचने का उपाय भी करते हैं; परन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वों की सही जानकारी एवं श्रद्धा के बिना, दु:ख दूर नहीं होता।

मुमुक्षु – ये प्रयोजनभूत तत्त्व क्या हैं, जिनकी जानकारी और सही श्रद्धा के बिना, दु:ख दूर नहीं हो सकता ?

प्रवचनकार – दु:ख दूर करना और सुखी होना ही सच्चा प्रयोजन है और ऐसे तत्त्व, जिनकी सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान बिना, हमारा दु:ख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। तत्त्व अर्थात् वस्तु का सच्चा स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव, वही तत्त्व है।

वे तत्त्व, सात होते हैं, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी ने कहा है –

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥1/4 ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं।

प्रश्नकर्ता – कृपया संक्षेप में इनका स्वरूप बतलाइए।

प्रवचनकार – जीवतत्त्व, ज्ञान-दर्शन, स्वभावी आत्मा को कहते हैं। ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न, समस्त द्रव्य (पदार्थ), अजीवतत्त्व कहलाते हैं। पुद्गलादि समस्त पदार्थ, अजीव हैं।

इन शरीरादि सभी अजीवपदार्थों से भिन्न चेतनतत्त्व ही आत्मा है। वह आत्मा ही मैं हूँ, मुझसे भिन्न पुद्गलादि पाँच द्रव्य, अजीव हैं।

सामान्यरूप से तो जीव-अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादि तो जीव-अजीव के ही विशेष (पर्यायें) हैं।

शंकाकार – यदि आस्रवादि, जीव-अजीव के ही विशेष हैं, तो इनको पृथक् क्यों कहा है ?

प्रवचनकार – यहाँ मोक्ष का प्रयोजन है; अतः आस्रवादि, पाँच पर्यायरूप विशेषतत्त्व कहे। उक्त सातों के यथार्थ श्रद्धान बिना, मोक्षमार्ग नहीं बन सकता है क्योंकि जीव और अजीव को जाने बिना, अपने-पराए का भेद-विज्ञान कैसे हो ? मोक्ष को पहिचाने बिना और हितरूप माने बिना, उसका उपाय कैसे करे ? मोक्ष के उपाय संवर-निर्जरा हैं; अतः उन्हें जानना भी आवश्यक है तथा आस्रव का अभाव, संवर है और बन्ध का एकदेश अभाव, निर्जरा है; अतः इनको जाने बिना, संवर, निर्जरारूप कैसे प्रवर्ते ?

शंकाकार – हमने तो प्रवचन में सुना था कि आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध, शुद्धाशुद्ध पर्यायों से पृथक् है, वही आश्रय करनेयोग्य है।

प्रवचनकार – भाई, वह द्रव्यदृष्टि के विषय की बात है। आत्मद्रव्य, प्रमाणदृष्टि से शुद्धाशुद्ध पर्यायों से युक्त है।

जिज्ञासु – यह द्रव्यदृष्टि क्या है ?

प्रवचनकार – सप्त तत्त्वों को यथार्थ जानकर, समस्त परपदार्थों और शुभाशुभ आस्रवादि विकारीभाव तथा संवरादि अविकारीभावों से भी पृथक्, ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व ही, दृष्टि का विषय है। इस दृष्टि से कथन में पर, विकार और भेद को भी गौण करके, मात्र त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव को आत्मा कहा जाता है और उसके आश्रय से ही धर्म (संवर-निर्जरा) प्रकट होता है।

जिन मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन मोह-राग-द्वेष भावों को भावास्रव कहते हैं। उसके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं आना, द्रव्यास्रव है।

इसी प्रकार आत्मा का अज्ञान, मोह -राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभावभावों में रुक जाना, भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बँधना, द्रव्यबन्ध है।

शंकाकार - पुण्य-पाप को बन्ध के साथ क्यों जोड़ दिया ?

प्रवचनकार - भाई ! पुण्य और पाप, आस्रव-बन्ध के ही अवान्तर भेद हैं। शुभराग से पुण्य का आस्रव और बन्ध होता है और अशुभराग से पाप का आस्रव और बन्ध होता है। शुभ और अशुभ, दोनों ही प्रकार का राग अर्थात् पुण्य और पाप, दोनों ही छोड़ने योग्य हैं; क्योंकि वे आस्रव और बन्धतत्त्व हैं।

पुण्य-पाप के विकारीभावों (आस्रव) को, आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना, भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का स्वयं आना रुक जाना, द्रव्यसंवर है।

इसी प्रकार ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से, स्वरूप-स्थिरता की वृद्धि द्वारा, आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना, भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशत: खिर जाना, द्रव्यनिर्जरा है।

प्रश्नकर्ता - और मोक्ष ?

प्रवचनकार - अशुद्धदशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर, आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्रदशा का प्रकट होना, भावमोक्ष है और उसके निमित्त कारण, द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना, द्रव्यमोक्ष है।

उक्त सातों तत्त्वों को भलीभाँति जानकर एवं समस्त परतत्त्वों से दृष्टि हटाकर, अपने आत्मतत्त्व पर दृष्टि ले जाना ही सच्चा सुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय है।

प्रश्न –

1. तत्त्व किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के हैं ?
2. 'प्रयोजनभूत' शब्द का क्या आशय है ?
3. पुण्य और पाप का अन्तर्भाव किन तत्त्वों में होता है और कैसे ? स्पष्ट कीजिए।
4. हेय और उपादेय तत्त्वों को बताइए।
5. द्रव्यसंवर, भावनिर्जरा, भावमोक्ष, द्रव्यास्रव तथा भावबन्ध को स्पष्ट कीजिए।
6. आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

आत्महत्या न करो

ठहरो ! आत्महत्या न करो। यों व्यर्थ न मरो। आओ मेरे पास आओ। मैं तुम्हें एक दृश्य दिखाता हूँ।

वह देखो दूर एक पालकी देख रहे हो न ?

हाँ !

जानते हो इसमें कौन है ?

नहीं।

आओ मेरे निकट आओ मैं तुम्हें पूरा दृश्य दिखलाऊँगा।

देखो, हाँ, उधर देखो, जरा गौर से देखो।

देखा ? एक ओर देवता खड़े हैं और दूसरी ओर मनुष्य और पालकी में बैठे हैं आदिनाथ।

देवता और मनुष्य में विवाद हो रहा है।

देवता—पालकी हम उठाएँगे।

मनुष्य—नहीं ! पालकी हम उठाएँगे।

देवता—हम मनुष्य से श्रेष्ठ हैं। सर्व गुणसंपन्न हैं। मनुष्य हमारी बराबरी नहीं कर सकते।

विवाद आगे बढ़ा, महाराज नाभिराय बीच-बचाव करते हुए बोले—देवताओं और मनुष्यो ! सुनो।

आप दोनों का विवाद व्यर्थ है। आदिनाथ तप करने जा रहे हैं। जो आदिनाथ की तरह तप कर सके, वह पहले पालकी उठाए।

चुप... नीरव... शांत... वातावरण हो गया। कौन साथ दे अब ? तब मनुष्यों का हृदय खुशियों से खिल उठा।

इंद्र से न रहा गया। आँखों में आँसू भर गद्‌गद् हो बोला—

मेरा स्वर्ग का वैभव, इंद्र पद सब व्यर्थ है। सब व्यर्थ है। मेरा इंद्र पद ले लो, मुझे मनुष्यजन्म दे दो। मुझे मनुष्यजन्म दे दो। तुम महान हो, तुम महान हो, तुम इंसान से भगवान बन सकते हो और मैं..... विलासी..... कर्मभोगी..... ऐय्याशी..... कुछ भी नहीं कर सकता, मुझे बचाओ ! ओ मनुष्यो ! मुझे बचाओ। अपना जन्म मुझे दो, हाँ मुझे दे दो।

'मित्रवर ! सुन रहे हो इंद्र की करुण पुकार। एक इंद्र मनुष्य जन्म प्राप्त करना चाहता है। किंतु तुम ??? आत्महत्या करना चाहते हो। बोलो ? जवाब दो....'

नहीं..... नहीं..... नहीं..... प्रियवर मैं आत्महत्या नहीं करूँगा। नहीं, कदापि नहीं।

पाठ 4

जैन गृहस्थ के आवश्यक

अनादिकाल से क्रोधादि कषायें जीव को कसतीं, तड़फातीं आ रही हैं और पाप से जीव का पतन हो रहा है। जीव का हित निष्कषाय, निष्पापभाव में ही है, वीतरागता में ही है लेकिन जब तक पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वीतरागता का इच्छुक, सहज ही शुभोपयोग में प्रवृत्ति करता है। शुभोपयोग से जीव, पाप तथा तीव्र कषाय से तो बचता ही है साथ ही साथ उसके शुद्धोपयोग के अवसर भी प्रकर्षता से जागृत होते हैं; अतः ऊँचीदशा पाने के लिए, मोक्षार्थी को कुछ अच्छे (शुभ) कार्य अवश्य करने चाहिए। ऐसे कार्यों का, इस पाठ में परिचय कराने का प्रयास किया जाएगा।

मङ्गलार्थियो ! जिस प्रकार राजा से भेंट करने के लिए कुछ योग्यता की आवश्यकता होती है; उसी प्रकार हमें अपने वैभवशाली प्रभु, आत्मा से मिलने के लिए जिस अनिवार्य सदाचार की आवश्यकता होती है; उन्हें आवश्यक कहते हैं।

वैसे तो मुनिराजों के सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान / स्वाध्याय, प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्गरूप जो छह आवश्यक बताए हैं, वे ही छह आवश्यक प्राचीन आचार्यों ने श्रावकों के लिए भी बताए थे। आचार- संहिता अलग-अलग नहीं होती। बस, जितनी उग्रता से मुनिराज चारित्र का पालन करते, उसकी आंशिक उग्रता से ही श्रावक पालन कर सकता है।

आवश्यकों को मुख्यता से छह भागों में वर्गीकृत किया है। निश्चयतया परमार्थ आवश्यक (अवश्य करनेयोग्य कार्य) तो आत्मस्थिरता है लेकिन साधकदशा में जो आंशिक शुद्धि होती है (श्रावकदशा के अनुरूप) उसके साथ-साथ जो आंशिक अशुद्धि है, उसमें शुभभाव आए बिना रहता नहीं है। इसी शुभभाव को व्यवहार आवश्यक कहते हैं। निश्चय आवश्यक, संवर-निर्जरा का हेतु है किन्तु व्यवहार आवश्यक, आस्रव-बंध का ही हेतु है, तथापि भूमिका-अनुसार होता अवश्य है।

कल्पना करो, घर में कोई छोटा बच्चा है। उसके घर में उससे बड़े छह सदस्य हैं। सभी उस बच्चे से अपने-अपने पद के अनुकूल सेवा चाहते हैं। अच्छा बच्चा तो वही है, जो खेलकूद को गौण कर, सबका दिल जीते। यदि यह कार्य छोड़कर, वह खेलकूद में समय बर्बाद करे, तो वह उपेक्षा का पात्र होगा। हाँ, पर परीक्षा नजदीक आते ही, घर के छहों सदस्य उससे सेवा लेने से मना करके, उसे अपने काम (पढ़ाई) के लिए प्रेरित करते हैं। ठीक उसी प्रकार **आत्मानुभूति के पूर्व, पाप से बचने के लिए**

इन छह आवश्यकों को करे, पर आत्मानुभूति की दशा में ये छह आवश्यक, स्वयमेव छूट जाते हैं।

पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ में ऐसे भी षट् आवश्यक बताए हैं—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने॥

1. देवपूजा, 2. गुरु की उपासना, 3. स्वाध्याय, 4. संयम, 5. तप, 6. दान।

शुभभावरूप आंशिक अशुद्धि में, मुख्यता से ये छह कार्य होते हैं। देव, शास्त्र, गुरु तो परम पदार्थ हैं। इन्हीं के आधार से तो धर्म है; इसीलिए इनके प्रति सहज ही बहुमान आना स्वाभाविक है। प्रथम तीन आवश्यक, इन्हीं की मुख्यता से हैं। संयम और तप अपने शरीर के प्रति ममत्व घटाने में सीधे कारण हैं। साथ ही जीव दया (रक्षा) का भी इसमें सीधा संकेत है तथा दान में परोपकार की भावना मुख्य है।

देवपूजा - जो वीतरागी तथा सर्वज्ञ होते हैं, वे सब देव हैं। उनका गुणानुवाद करना, उनके आकार का अवलोकन करना, उनका स्वरूप विचारना, उनके वचन सुनना आदि सब देवपूजा है।

गुरु उपासना - गुरुमुद्रा (वीतरागता) का आकर्षण होना, परिषह सहनादि की भावना होना; गुरुओं को आहार, वसतिका आदि दान देना; गुरुओं की वैयावृत्ति करना, गुरुओं के समागम की भावना भाना, ये सब, गुरु उपास्ति / उपासना है।

स्वाध्याय - वीतरागी देव तथा वीतरागी गुरुओं के मुख से वीतरागता-पोषक चार अनुयोगमय वचन को शास्त्र कहते हैं। वाचना (अथवा श्रवण करना), पृच्छना (जिज्ञासाओं को नम्रतापूर्वक पूछना), अनुप्रेक्षा (शास्त्र में आये विषय का चिन्तन करना), आम्नाय (निर्णय करके बारंबार उसका पाठ करना) तथा उपदेश (योग्य जीव को संबोधन देकर, मोक्षमार्ग में बढाना), इस प्रकार ये पाँच अंग स्वाध्याय के कहे गए हैं।

संयम - संयम दो प्रकार का है। (1) प्राणी संयम; इसमें छह कायवाले जीवों (त्रस तथा पाँचों स्थावर) की रक्षा का मूल प्रयोजन है। (2) इन्द्रियसंयम है; इसमें पाँच इन्द्रियों के तथा मन के विषय से निवृत्त होना प्रयोजन है।

तप – जैन, इच्छा का निरोध होने के कारणभूत अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशैयासन तथा कायक्लेश – इन बहिरंग तपों में; तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान – इन अन्तरंग तपों में; इस प्रकार बारह तपों में प्रवृत्ति करता है।

दान – जैन, स्व तथा पर का उपकार करने हेतु आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान तथा अभयदान में प्रवृत्त होता है। विधि, पात्र तथा द्रव्य की शुद्धि का भान रखते हुए; दाता, भक्ति आदि भावों से सम्पन्न होकर दान में प्रवृत्त होता है।

इन व्यवहार आवश्यकों में प्रवृत्ति करने से जैन की कषायें सहज ही मन्द रहती हैं और निष्कषाय होने के अवसर बने रहते हैं; अत: प्रत्येक जैन को इन आवश्यकों में प्रवृत्ति करना चाहिए।

एक आत्मा का आश्रय करना ही परमार्थ देवपूजा है, गुरु-उपासना है, स्वाध्याय है, संयम है, तप है तथा दान भी है; अत: इस मूल प्रयोजन को व्यवहारकार्यों के काल में नहीं भूलना चाहिए; क्योंकि 'मूल बिना, सब धूल है।'

प्रश्न –

1. आवश्यक का स्वरूप स्पष्ट करें।
2. निश्चय तथा व्यवहार आवश्यक में अंतर लिखें।
3. पद्मनन्दी पंचविंशतिका में वर्णित छह आवश्यकों के नाम लिखें (पद्य सहित)।
4. चार प्रकार के दान कौन-कौन से हैं ?
5. स्वाध्याय के समस्त अंग लिखें।
6. निश्चय तथा व्यवहार देव-पूजा क्या है ?

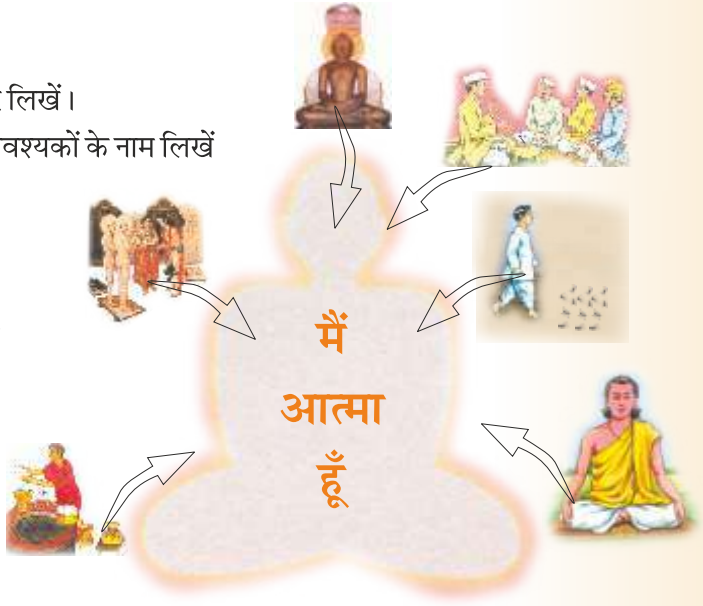

पाठ 5

कर्म-सिद्धान्त

मङ्गलार्थी बच्चो! अन्य दर्शनों में, ईश्वर जगत का कर्ता है। इस मान्यता से सबसे बड़ी हानि यह है कि ईश्वर भी इच्छाओं की आकुलता से पीड़ित है। ऐसे में ईश्वर और संसारी में कुछ फर्क ही नहीं रहता है। दूसरी तरफ से देखो तो, ऐसी मान्यता से जगत को ईश्वर की चापलूसी करना, उसकी गुलामी करने की बाध्यता हो जाएगी। अपनी भवितव्यता की बागडोर भला कौन, औरों के हाथ में देना चाहेगा? ईश्वर के हाथ की कठपुतली कौन बनना चाहेगा? इसीलिए जैनियों के भगवान ने, हमें यदि कोई सर्वोत्कृष्ट वस्तु दी है, तो वह यह कि उनने हमें अपनी गुलामी से भी छुटकारा दिलाया है। ईश्वर ने जगत को नहीं किया है, बल्कि जगत ने अपनी कल्पना से इस कर्ता-धर्ता ईश्वर को मान लिया है। जगत का जो भी मानव पुरुषार्थ करता है, वह भी ईश्वर बन सकता है। यह चरम स्वाधीनता ही जैनशासन की देन है।

मङ्गलार्थियो, 'कर्म' शब्द का प्रयोग, लोक में कई अर्थों में किया जाता है –

1- कर्म का एक अर्थ काम-धन्धा होता है। लोक में कर्मवीर, कर्मयोगी जैसी जितनी उपाधियाँ प्रसिद्ध हैं, वे सब इसी अर्थ में हैं।

2- मीमांसकमतवाले यज्ञ, याग आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं।

3- वैयाकरण (व्याकरण के ज्ञाता) **'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'**

अर्थात् कर्ता को जो इच्छित हो, उसे कर्म कहते हैं। जैसे - कुम्हार ने घड़े को बनाया। इसमें कुम्हार कर्ता है और घड़ा कर्म।

ऐसे कई अर्थ, लोक में प्रयुक्त हैं पर हम जिस कर्म का विचार करने जा रहे हैं, वह जैनशासन में वर्णित कर्म-सिद्धान्त के आधार से है। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि इस दर्शन के अलावा, अन्य किसी भी दर्शन ने कर्म-सिद्धान्त की चर्चा नहीं की है। परलोक गमन, भव-भवान्तर आदि का जैसा वर्णन जैनदर्शन में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, असम्भव है।

विशिष्ट परिणमन या विशिष्ट कार्य को कर्म कहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं—भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म।

जीव के जो रागादि विकारीभाव हैं, ये सब भावकर्म हैं। अज्ञान के वशीभूत होकर, जीव को, जब इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, तो इस भावकर्म की उत्पत्ति होती है। यह जीव की अपनी भूल है। परद्रव्य, परक्षेत्र तथा परकाल, जबरन जीव का भाव नहीं बिगाड़ता। यह वस्तु स्वातंत्र्य की मर्यादा है।

जब जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ के अभाव (विराधक अवस्था) में अथवा पुरुषार्थ की कमी (साधक अवस्था) में राग-द्वेष करता है, तब बाहर में सहज ही निमित्तरूप में द्रव्यकर्म का उदय रहता है। उपादान, कार्यरूप स्वयं परिणमन करता है और निमित्त, उपादानगत उस कार्यरूप तो परिणमन नहीं करता, पर कार्य के काल में विद्यमान रहता है।

निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि **पूर्वबद्ध मोहनीय आदि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह, राग, द्वेषरूप विकारीभावों को भावकर्म कहते हैं।** ये भावकर्म, दु:खरूप हैं; अत: हेय हैं।

जीव के मोह, राग, द्वेषरूपी भावकर्मों का निमित्त पाकर, इसी काल में कार्मणवर्गणा का कर्मरूप से परिणमित होकर, आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाना, द्रव्यकर्म कहलाता है। तेईस प्रकार की वर्गणाओं में से, कार्मणवर्गणा भी एक वर्गणा स्कन्ध है। जीव, जबरन द्रव्यकर्म को नहीं करता; जीव तो मात्र भावकर्म ही करता है। उपचार से यह कहा जाता है कि जीव ने बंध किया।

इन द्रव्यकर्मों को नष्ट करने के लिए जीव को पृथक् से कोई पुरुषार्थ भी नहीं करना पड़ता। जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य होने से, वे एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं। जब जीव अपने पुरुषार्थ से आत्मा का आश्रय करता है, तो कर्म स्वयं ही कर्मरूप न रहकर, अकर्मरूप हो जाते हैं, सामान्य वर्गणाओंरूप हो जाते हैं। उपचार से यह कहा जाता है कि जीव ने कर्म का अभाव किया। द्रव्यकर्म, आत्मा के लिए परद्रव्य होने से ज्ञेयमात्र है, हेय अथवा उपादेय नहीं। जीव के भावकर्म में द्रव्यकर्म निमित्त होने से, उपचार से द्रव्यकर्म को दु:खरूप और हेय कहा जाता है।

द्रव्यकर्म के घाति, अघाति, पुण्य, पाप इत्यादि अनेक प्रकार से भेद होते हैं। मूलतया द्रव्यकर्म के घाति और अघाति - ये दो भेद हैं। घातिकर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - ये चार तथा अघातिकर्म के वेदनीय, आयुष्क, नाम और गोत्र - ये चार भेद हैं। इसे चार्ट द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :-

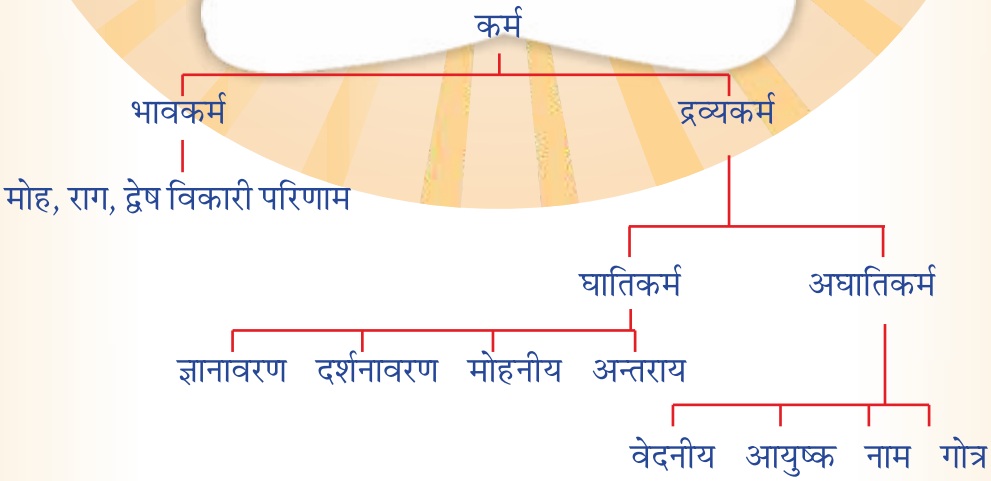

(अ) घातिकर्म – जब जीव स्वोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा अपने अनुजीवी गुणों का विकास नहीं करता है, तब उन गुणों का विकास नहीं होने में अर्थात् उनके घात में निमित्त होनेवाले कर्म को घातिकर्म कहते हैं। वास्तव में इन गुणों का शुद्ध परिणमन व्यक्त नहीं होना ही, इनका घात है। इसमें भी कर्म बलात् इनका घात नहीं करते हैं; अपितु जब जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय नहीं लेता है, तब इन गुणों का शुद्ध परिणमन व्यक्त नहीं होता है; उस समय उसमें द्रव्यकर्म का उदय आदि भी निमित्त होता है।

1. ज्ञानावरण – जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञानभाव का घात करता है अर्थात् ज्ञानशक्ति को व्यक्त नहीं करता है, तब उस ज्ञानगुण के घात में जो कर्म निमित्त होता है, उसे ज्ञानावरणकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, मूर्ति पर डाले गए वस्त्र के समान ज्ञान को आवृत करना है अर्थात् यह ज्ञान को आच्छादित करने में निमित्त होता है।

जैसे—मूर्ति पर वस्त्र डालने से मूर्ति ढक जाने के कारण, वह स्पष्टतया दिखाई तो नहीं देती है; परन्तु उसकी सत्ता का सामान्य आभास होता रहता है; उसी प्रकार इस कर्म का उदय होने पर पदार्थों का ज्ञान रुक जाता है; परन्तु उनकी सत्ता का आभास, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान निरन्तर विद्यमान रहता है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद हैं – मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। इन भेदों के भी ज्ञेयादि की अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं।

2. दर्शनावरण – जब जीव अपने दर्शनगुण का घात करता है; अर्थात् दर्शनशक्ति को व्यक्त नहीं करता है, तब उस दर्शनगुण के घात में जो कर्म निमित्त होता है, उसे दर्शनावरणकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, द्वार पर खड़े द्वारपाल के समान है। जैसे—द्वारपाल की आज्ञा के बिना अन्दर प्रवेश पाना शक्य नहीं है; उसी प्रकार इस कर्म के उदय में पदार्थों का दिखाई देना, आभासमात्र होना भी शक्य नहीं होता है।

इसके नौ भेद हैं – चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शना-वरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, निद्रा और प्रचला।

3. मोहनीयकर्म – जब जीव अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थों को अपना मानता है तथा

स्वरूपाचरण में असावधान रहता है; तब उनमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। इसका कार्य, मदिरा के समान है। जैसे—मदिरा पीने से व्यक्ति बेभान हो जाता है, असावधान हो जाता है, अविवेकी क्रियाओं में मस्त हो जाता है; उसी प्रकार इस मोहनीयकर्म के उदय में जीव बेभान हो जाता है, अपने स्वरूप में असावधान रहता है, स्व-पर भेदविज्ञान से रहित अविवेकी क्रियाओं में मस्त रहता है।

इसके मुख्यतया दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति - ये तीन भेद हैं। चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कर्मप्रकृति; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कर्मप्रकृति - ये पच्चीस भेद हैं। ये सभी मिलकर मोहनीयकर्म के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। मोहादि विकारीभावों की अपेक्षा इसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं।

4. अन्तरायकर्म - जब यह जीव स्वयं अपनी दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यरूप क्षमता को प्रगट नहीं करता है; तब उसमें जिस कर्म का उदय विघ्न डालनेरूप निमित्त होता है, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, खजानची / भण्डारी के समान है। जैसे—सामग्री विद्यमान होने पर भी खजानची की आज्ञा के बिना उस सामग्री का भोग-उपभोग आदि सम्भव नहीं है; उसी प्रकार इस कर्म के उदय में भी दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य की क्षमता व्यक्त नहीं होती है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद हैं - दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म।

(ब) अघातिकर्म - प्रतिजीवी गुणों के घात में निमित्त होने पर भी जो कर्म अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त नहीं होते हैं, उन्हें अघातिकर्म कहते हैं।

5. वेदनीयकर्म - जब आत्मा स्वयं अपने मोहभाव से आकुलित होता है, तब उस आकुलता में, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग होने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, शहद लपेटी तलवार के समान है। शहद से लिप्त तलवार को जीभ पर रखने से जैसे

अत्यन्त अल्पकाल में मीठे स्वाद का लाभ होता है; परन्तु तत्क्षण ही जीभ कट जाने से, अत्यधिक कष्ट भी भोगना पड़ता है; उसी प्रकार इस कर्म के उदय में निरंतर अनुकूल-प्रतिकूल संयोगजन्य आकुलता का वेदन होता रहता है।

इसके मुख्यतया दो भेद हैं - सातावेदनीय और असातावेदनीय।

6. आयुष्ककर्म - जब जीव अपनी योग्यता से मनुष्य, तिर्यंच आदि शरीरों में रहता है, तब उसमें जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे आयुष्ककर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, काठ के खोड़े के समान है। जिस प्रकार काठ के खोड़े (अपराधी को सजा देने के लिए बनाए जानेवाले प्राचीनकालीन लकड़ी के यन्त्र) में फँसा हुआ पैर, वह खोड़ा खोले जाने पर या नष्ट होने पर ही निकल सकता है; उसी प्रकार इस कर्म के उदयरूप निमित्त के समय यह जीव, अपनी योग्यता से जिस शरीर में रह रहा है, उस शरीर से निकल पाना, इस कर्म के उदय का अभाव होने पर ही होता है, इसके बिना नहीं।

इसके चार भेद हैं - नरकायुष्क, तिर्यंचायुष्क, मनुष्यायुष्क और देवायुष्क।

7. नामकर्म - यह जीव अपनी योग्यता से जिस शरीर में रहता है, उस शरीर के निर्माण आदि में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे नामकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, चित्रकार के समान है। जैसे - चित्रकार, विविध आकार-प्रकारवाले चित्र बनाता है; उसी प्रकार इस कर्म के उदय में भी शरीर के विविध आकार-प्रकार होते हैं।

इसके तेरानवे भेद हैं - चार गति, पाँच जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, पाँच बंधन, पाँच संघात, छह संस्थान, छह संहनन; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, सम्बन्धी बीस; चार आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर।

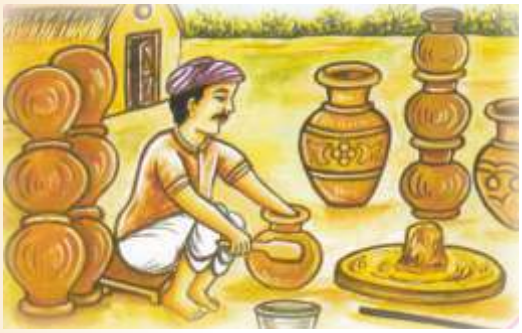

8. गोत्रकर्म – जीव के उच्च या नीच आचरण होने में जिस कर्म का उदय निमित्त होता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। इस कर्म का कार्य, कुम्भकार के समान है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे, बड़े, ऊँचे या नीचे बर्तन बनाता है; उसी प्रकार यह कर्म, उच्च या नीच आचरण में निमित्त होता है।

इस कर्म के दो भेद हैं – उच्चगोत्र और नीचगोत्र कर्म।

भावकर्म तथा द्रव्यकर्म को देखने के बाद, अब नोकर्म का विचार करते हैं।

शरीर आदि को नोकर्म कहते हैं। यह द्रव्यकर्मवत् किंचित् सुख-दुःख का कारण है। 'नो' यह शब्द ईषत् (अल्प) वाचक है। यहाँ किंचित् शब्द, इस बात का सूचक है कि दुःख में मूल निमित्त-कारण तो द्रव्यकर्म ही है; नोकर्म नहीं। जीव के दुःख की व्याप्ति, द्रव्यकर्म के उदय के साथ है; नोकर्म के साथ नहीं। उदाहरण – रोगी शरीर तब ही दुःख का कारण है, जब पापकर्म (द्रव्यकर्म) का उदय हो।

जब हमें यह ख्याल में आयेगा कि स्त्री, पुत्र, मकान, दुकान आदि न तो सुख के कारण हैं और न दुःख के, बल्कि हमारे सुख-दुःख का कारण हमारा वैसा कर्मोदय है, तो हम स्त्री, पुत्र आदि में राग-द्वेष करके कुछ फेरफार करने का मिथ्या प्रयास नहीं करेंगे। परदोषारोपण की वृत्ति छूटकर, आत्मसम्मुख परिणाम होने लगेंगे।

प्रश्न –

1. कर्म किसे कहते हैं ?
2. भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म को स्पष्ट करें।
3. घाति तथा अघातिकर्म की परिभाषा लिखें।
4. कर्म के भेद-प्रभेद का चार्ट बनाएँ।
5. आठ कर्मों के उदाहरण स्पष्ट करें।
6. निम्न कर्मों पर नोट लिखें –
   1. मोहनीय, 2. अन्तराय, 3. वेदनीय, 4. दर्शनावरण।

सुखस्य दुखस्य न कोऽपि दाता परोददातीति कुबुद्धिरेषा
अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्र ग्रथितो हिलोकः।

अर्थात् सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता कोई नहीं है। एक जीव दूसरे जीव को सुख-दुःख देता है, यह भ्रम है। मैं, परद्रव्य का कर्ता हूँ ऐसा भी समझना व्यर्थ का अभिमान है। प्राणीमात्र अपने कर्म से ही बद्ध है।

पाठ 6

त्यौहार और पर्व

पर्वों का प्रयोजन, त्यौहारों के प्रयोजन से भिन्न है। त्यौहार तो राग के पोषण में ही कारणभूत होते हैं। उन दिनों गरिष्ठ भोजन करके, महँगे कपड़े-जेवर पहनकर, प्रमाद में काल गँवाया जाता है। इसके विपरीत पर्वों का प्रयोजन संयम और साधना की वृद्धि है। अनशनादि के जरिए, सादगी से रहकर, यदि सम्भव हो सके, तो स्नान-अलंकार का त्याग करके, ज्ञान-ध्यान में दत्तचित्त होना चाहिए। इन दिनों आरम्भ और परिग्रह से ममत्व हटाना चाहिए। विशिष्ट अन्तरालों में आनेवाले पर्वों में संयम का अभ्यास करके, हमें सकल-संयम की भावना भाना चाहिए।

पर्व भी दो प्रकार के होते हैं। (1) शाश्वत्; जो त्रैकालिक और सार्वभौमिक होते हैं, जैसे - दशलक्षण, अष्टाह्निका, अष्टमी, चौदस आदि, और (2) तात्कालिक; जो विशिष्ट घटना तथा क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं, जैसे - रक्षाबन्धन, तीर्थंकर के पंच कल्याणकादि।

आइए, हम कुछेक का ज्ञान करते हैं, जिससे हमें दुर्लभ नरपर्याय की, देव-शास्त्र-गुरु की तथा आत्मकल्याण की महिमा आए।

1. अक्षय तृतीया पर्व

प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ल तृतीया को, अक्षय तृतीया पर्व मनाया जाता है। यह पर्व प्राचीन है क्योंकि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, मुनिदशा को धारणकर, छह माह मौनसाधना करने के बाद, प्रथम आहारचर्या हेतु निकले; परन्तु आहारदान की विधि का ज्ञान नहीं होने से योग्यतादि नहीं होने से उनको सात माह, नौ दिन तक आहार की विधि नहीं मिली।

एक बार वे आहार के लिये हस्तिनापुरनगर पधारे। दूर से उन्हें आते देख, राजा श्रेयांस को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो गया। उन्होंने मुनि ऋषभदेव का नवधाभक्तिपूर्वक पड़गाहन किया और इक्षुरस का आहार दिया।

राजा श्रेयांस के गृह-महल में तीर्थंकर के आहार होने के प्रभाव से, पंचाश्चर्य - 1. रत्नवृष्टि, 2. पुष्पवृष्टि, 3. दुन्दुभि बाजों का बजना, 4. शीतल सुगन्धित मन्द-मन्द वायु चलना, 5. अहो दानम्-अहो दानम् के प्रशंसा वाक्य, प्रगट हुए।

जिस दिन तीर्थंकर ऋषभदेव का आहार हुआ था, उस दिन वैशाख शुक्ला तृतीया थी। उस दिन, राजा श्रेयांस के यहाँ भोजन, अक्षीण हो गया था; अत: उसे अक्षय तृतीया कहते हैं।

2. रक्षाबन्धन पर्व

भगवान अरनाथ तीर्थंकर के काल में जब बलि आदि चार ब्राह्मण मन्त्रियों ने द्वेषवश, श्री अकम्पनाचार्य को, 700 मुनियों के संघसहित जीवित जला देने की इच्छा से, हस्तिनापुर के बाहर मुनिसंघ के चारों ओर धुएँदार अग्नि जला दी। तब साधुगण अपने ऊपर महा-विपत्ति समझकर, आत्मध्यान में लीन हो गए।

श्री विष्णुकुमार मुनि, जो कि विक्रियाऋद्धि के धारक थे, धर्म वात्सल्यवश तुरन्त हस्तिनापुर आये और अपने शरीर को विक्रियाऋद्धि से बौने ब्राह्मण का रूप बनाकर, बलि मन्त्री से अपने लिये तीन पग (कदम) पृथ्वी माँगी। मन्त्री बलि ने देना स्वीकार कर लिया, तब उन्होंने विक्रिया से बड़ा रूप बना कर, दो पैर में ही मानुषोत्तर पर्वत तक सारी पृथ्वी नाप ली। तीसरा पैर बलि की पीठ पर रखे जाने की सम्भावना से, मन्त्री बलि उनकी शरण में आ गया।

इस प्रकार पृथ्वी पर अधिकार पाकर, उन्होंने तुरन्त अकम्पनाचार्य के संघ के चारों ओर से अग्नि हटवाकर, उनके उपसर्ग को दूर किया।

जनता को इससे शान्ति तथा सन्तोष हुआ। उपसर्ग दूर होने पर, श्रावकों ने दूध के सिमैये का आहार मुनियों को दिया, क्योंकि धुएँ से उनके गले भी रुँध गए थे।

वह दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का था; अत: उस दिन से प्रतिवर्ष रक्षाबन्धनपर्व प्रारम्भ हुआ और मुनिरक्षा के स्मरणस्वरूप, रक्षासूत्र हाथ में बाँधा जाने लगा।

3. महावीर जयन्ती

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, भगवान महावीर की अंतिम जन्मतिथि है। इसे सम्पूर्ण जैनसमाज मिलकर, बड़े धूमधाम से मनाती है। इस दिन प्रभातफेरी, विशाल जुलूस, शोभायात्रा निकाली

जाती है। पश्चात् श्रीजी का अभिषेक होता है एवं रात्रि में भगवान के जीवन एवं उपदेश पर विद्वानों द्वारा व्याख्यान, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि होते हैं। इस दिन प्राय: सभी श्रद्धालु जैन-श्रावक, व्यापारिक प्रतिष्ठान बन्द रखते हैं एवं जिनधर्म की प्रभावना में अपना सहयोग प्रदान करते हैं। इस दिन अनाथाश्रम आदि संस्थाओं के लिये दान एवं रोगियों के लिये दूध, फल, औषध आदि भी नि:शुल्क वितरित किए जाते हैं।

4. वीरशासन जयन्ती

जैनशास्त्रों के अनुसार नए वर्ष का प्रारम्भ, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को होता है। युग का प्रारम्भ अथवा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप कालों का आरम्भ, इसी तिथि से होता है। युग की समाप्ति आषाढ पूर्णिमा को होती है। पश्चात् श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को युग-आरम्भ होता है।

भगवान महावीर, केवलज्ञान होने के बाद, 66 दिन तक मौन विहार करते हुए, राजगृही में आए।

नियमानुसार तो जहाँ केवलज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ तत्काल तीर्थंकर की दिव्यध्वनि खिरने लगती है लेकिन यहाँ गणधर के न होने से, ऐसा नहीं हुआ। आषाढ की पूर्णिमा के दिन विप्र श्रेष्ठ इन्द्रभूति गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, कौण्डेय आदि पण्डित, इन्द्र की प्रेरणा से भगवान महावीर के समवसरण में आए। वे सभी पण्डित अपने-अपने 500-500 शिष्यों के साथ थे, जिन्होंने धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के बाद, वस्त्रादि को त्यागकर, संयम धारण कर लिया। तब वर्धमान प्रभु ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तिथि को प्रात:काल के समय दिव्यध्वनि के द्वारा शासन-परम्परा चलाने के लिए उपदेश दिया।

उसी समय राजा चेटक की पुत्री चन्दना, एक धवल वस्त्र (साड़ी) धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख हो गई। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ समवसरण में पहुँचे और जिनेन्द्रदेव को नमन किया।

इस प्रमाण के अनुसार, श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को वीरशासन जयन्ती सम्पन्न की जाती है।

5. दीपावली

आज (ई. सन् 2018) से लगभग 2544 वर्ष पहले, कार्तिक वदी अमावस्या के प्रात: से कुछ समय पहले, अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर, पावापुर से निर्वाण को प्राप्त हुए थे। उस समय रात्रि का कुछ

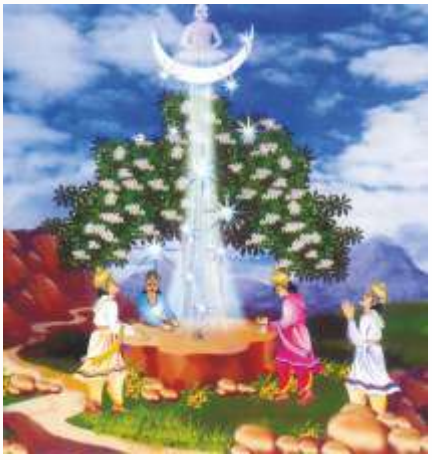

अन्धकार शेष था। तभी देवों ने तथा मनुष्यों ने वहाँ पर आकर भगवान का मोक्षकल्याणक मनाया।

तदनुसार तब से ही प्रतिवर्ष भारत में कार्तिक वदी अमावस्या को दीपावली उत्सव मनाया जाता है। चतुर्दशी की रात्रि व्यतीत होने पर, प्रातः भगवान महावीर की पूजा की जाती है। शाम को उनके प्रधान शिष्य, गौतम गणधर को केवलज्ञान प्रकट हुआ था।

6. श्रुतपंचमी

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने के लगभग 600 वर्ष पश्चात् जब श्रुतज्ञान का लोप होने लगा, तब गिरनारपर्वत की गुफा में तपश्चरण करनेवाले श्री धरसेनाचार्य के मन में, श्रुत संरक्षण का विचार आया। निमित्तज्ञान से उन्होंने जाना कि मेरी आयु अब अल्प रह गयी है, मेरे बाद इस अंगादि के ज्ञान का लोप हो जाएगा; अतः योग्य शिष्यों को मुझे अंगादि का ज्ञान करा देना चाहिए। ऐसा विचार कर, उन्होंने महिमानगरी में अर्हद्बलि आचार्य के पास पत्र भेजा, तब उन्होंने नरवाहन और सुबुद्धि नामक मुनिराजों को उनके पास भेजा। उन्होंने परीक्षण के लिए दोनों मुनिराजों को एक-एक विद्या सिद्ध करने के लिए दी।

गुरु आज्ञानुसार, दोनों मुनिराज गिरनारपर्वत पर, भगवान नेमिनाथ की निर्वाण शिला पर, पवित्र मन से विद्या सिद्ध करने अलग-अलग बैठ गये और मन्त्र सिद्ध कर लिया।

शिष्यों (मुनिराजों) को सब तरह योग्य पाकर, आचार्य धरसेन ने दोनों मुनिराजों को अच्छी तरह शास्त्र के अंग का उपदेश दिया तथा उपदेश (ग्रन्थ) समाप्ति पर, भूत जाति के देवों द्वारा मुनियों की पूजा करने पर, नरवाहन मुनि का नाम भूतबलि तथा सुबुद्धि मुनि की अस्त-व्यस्त दन्त पंक्ति सुव्यवस्थित हो जाने से, उन्हें पुष्पदन्त नाम दिया गया।

कुछ समय पश्चात् उन मुनिराजों ने षट्-खण्डागम नामक सिद्धान्त- ग्रन्थ लिपिबद्ध कर, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण किया। उस दिन बहुत उत्सव मनाया गया। तभी से, प्रतिवर्ष ज्येष्ठ सुदी पंचमी को श्रुतपंचमी का उत्सव मनाया जाता है। इस दिन शास्त्रों की विशेष वैयावृत्ति, सज्जा, भक्ति आदि की जाती है।

7. दशलक्षण पर्व

दशलक्षण मण्डल विधान

जैन श्रावकों का सबसे पवित्र पर्व, दशलक्षण है। यह पर्व, प्रतिवर्ष तीन बार माघ, चैत्र एवं भाद्रपद के शुक्लपक्ष की पंचमी से चतुर्दशी तक मनाया जाता है। ये दस दिन, दशलक्षणधर्म के दिन कहे जाते हैं। दस धर्मों के नाम पर ही इन पर्वों के दसों दिनों का नाम उद्घोषित किया जाता है। इनके नाम उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य हैं। इन दिनों श्रावक यथाशक्ति व्रतों का पालन करते हैं, पूजन-पाठ कर संयम के साथ व्यतीत करते हैं।

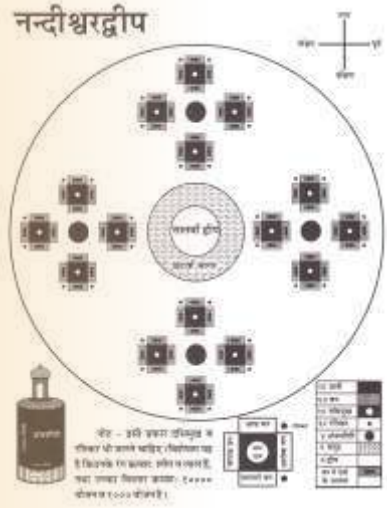

8. अष्टाह्निका पर्व

यह पर्व, कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ माह के अन्त के आठ दिनों तक (शुक्लपक्ष की अष्टमी से, पूर्णिमा तक) मनाया जाता है। इन आठ दिनों में अष्टम द्वीप नन्दीश्वर में स्थित बावन जिनालयों की पूजा करने, चतुर्निकाय के देव यहाँ आते हैं। चूँकि मनुष्य वहाँ नहीं जा सकते; इसलिए उक्त दिनों में पर्व मनाकर, यहीं पर पूजन करते हैं। इन दिनों में मुख्यरूप से सिद्धचक्र मण्डल विधान का आयोजन किया जाता है। साधुसंघों में नन्दीश्वरभक्ति का पाठ किया जाता है। साधु एवं श्रावकगण इन दिनों यथाशक्ति व्रत-उपवास रखते हैं।

इस पर्व से जुड़ी मैनासुन्दरी की घटना प्रसिद्ध है। मैनासुन्दरी ने सिद्धचक्र विधान करके, श्रीपाल तथा उसके साथ अन्य साथियों का कुष्ट रोग दूर किया था।

शिक्षा—जिस प्रकार मील के पत्थर हमें योग्य दिशा-निर्देश करते हैं, हमें दिग्भ्रान्त नहीं होने देते; उसी प्रकार ये पर्व हमारे जीवन में कल्याण के अवसर प्रस्तुत करते हैं; अतः अवसर चूकना योग्य नहीं है।

प्रश्न -

1. पर्वों का प्रयोजन स्पष्ट कीजिए।
2. समस्त पर्वों की तिथियाँ लिखें।
3. निम्न पर्वों का वर्णन करें -
   (1) श्रुत पंचमी, (2) दीपावली, (3) दशलक्षण।
4. क्या इनके अलावा भी कोई पर्व हैं ? उन पर निबन्ध लिखें।

पाठ 7

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

जिसने निरन्तर दश भवों तक अनायास शत्रुता करके मरणांतक कष्ट दिया, प्रत्येक बार प्राणघात किया, ऐसे कमठ के जीव को क्षमाशील पार्श्व प्रभु का जीव, शान्तिपूर्वक सब कष्ट सहन करते हुए भी क्षमा करता रहा और उन्हें कभी भी बदले की भावना या कषाय जागृत नहीं हुई। इस क्षमा और क्रोध का संघर्ष दश भवों तक निरन्तर चलता रहा, किन्तु अन्त में क्षमा की ही विजय हुई। कमठ का जीव, पराजित होकर प्रभु की शरण में जा पहुँचा। ज्ञानी जीव सोचते हैं कि मेरे शत्रु तो मेरे कषायादि विकारी भाव हैं। जिसके कारण ही आत्मा निरन्तर दुःख भोगता हुआ संसार के चक्कर काटता रहता है क्योंकि इस विकार से ही कर्मबन्ध होता है तथा कर्मोदय होने पर ही यह शत्रु- आदि का अनिष्ट संयोग मिलता है। आत्मा का शत्रु, आत्मा से कहीं बाहर नहीं है; आत्मा में ही है। तब वह क्रोध किस पर करे, जब शत्रु तो अपना क्रोधादि विकार ही है ? मुझे इसी असली शत्रु पर ही क्रोध करना चाहिए और इसके नाश करने का उपाय, निरन्तर करना चाहिए। अज्ञानी जीव, वस्तुस्वरूप का ज्ञान न होने से, निमित्तादि को ही अपना कर्ता-हर्ता मानता है। मङ्गलार्थी बन्धुओ! पार्श्वप्रभु का प्रेरणाप्रद यह व्याख्यान, हमारे मार्ग का निर्देशन कर रहा है।

दसवें पूर्व भव में पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति और कमठ उसका बड़ा भाई था। इनके पिता विश्वभूति, राजा अरविन्द के मन्त्री थे। कमठ प्रारम्भ से ही दुष्टस्वभाव का था, जबकि मरुभूति सरलस्वभावी तथा दयालु था। विश्वभूति ने आत्म-कल्याण के लिए

(श्री पार्श्व प्रभु का दसवाँ पूर्वभव)

मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली, तब राजा ने मरुभूति को अपना मन्त्री बनाया। अब कमठ, प्रजा को निरन्तर अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाता रहता था किन्तु मन्त्री का भाई होने से, उससे कोई कुछ नहीं कहता था।

एक बार मरुभूति, राजा के साथ लड़ाई पर चला गया। यहाँ पर कमठ, मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा के सुन्दर रूप को देखकर, उस पर मोहित हो गया। वह उससे मिलने को छटपटाता हुआ उपवन में चला गया। वहीं पर उसका एक मित्र आ पहुँचा। कमठ ने अपने मित्र से कहा – प्यारे मित्र! यदि वसुन्धरा न मिल सकी, तो मेरा जीवन मुश्किल है। मित्र ने उसे वसुन्धरा से मिलाने का आश्वासन दिया। मित्र ने वसुन्धरा के पास आकर कहा – तुम्हारा जेठ कमठ बहुत अधिक बीमार है, वह उपवन में बेसुध पड़ा हुआ है। यह सुनकर, वसुन्धरा कमठ को देखने उपवन में गई। कामान्ध कमठ ने वसुन्धरा का बलात् शील हरण किया। वसुन्धरा ने बहुत पश्चात्ताप किया, फिर भी उसने जेठ की प्रतिष्ठा रखने के लिए, इस भयंकर पाप के भेद को छिपाकर ही रखा, परन्तु फिर भी दूसरों के द्वारा उसके पाप का घड़ा फूट गया। राजा ने यह समाचार सुनकर कमठ को शूली का दण्ड दिया। यह देख मरुभूति ने कहा – राजन! वह मेरा बड़ा भाई है; अत: इसे क्षमा प्रदान करें। तब राजा ने उसे शूली का दण्ड तो नहीं दिया, किन्तु काला मुँह कराकर गधे पर बिठाकर, नगर से बाहर निकाल दिया।

निष्कासित होकर, गाँव से बाहर एक वन में वह एक तपस्वी का शिष्य बनकर, अपने हाथों पर एक शिला लेकर विवेकहीन खोटा तप करने लगा। एक दिन मरुभूति ने अपने बड़े भाई का यह समाचार सुना तो उसे बड़ा दु:ख हुआ, बड़े भाई को देखने के लिए वह तड़फ उठा। तब राजा ने बहुत समझाया कि उस दुष्ट के पास मत जाओ; किन्तु मरुभूति बन्धु के प्रेमवश उस जंगल में जा पहुँचा, जहाँ तापसी बना कमठ तप कर रहा था। मरुभूति ने अपने बड़े भाई के चरणों में मस्तक रखकर क्षमा याचना की तथा कहा – पूज्य भ्राता! तुम्हें जो दुख प्राप्त हुआ, उसमें मेरा कोई दोष नहीं है। मैंने राजा को बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं माना; अत: मुझे क्षमा कर दो और अपने घर चलो।

मरुभूति ज्यों-ज्यों कमठ से क्षमायाचना के लिए गिड़गिड़ाता था, त्यों-त्यों कमठ का क्रोध बढता जा रहा था। अन्त में उसने क्रोधावेश में आकर हाथों में ली हुई शिला मरुभूति के ऊपर पटक दी, जिससे मरुभूति के प्राण पखेरु उसी क्षण उड़ गए। यह देखकर तापसियों ने कमठ को अपने आश्रम से निकाल दिया। तब वह भीलों से मिलकर चोरी करने लगा। एक दिन उसे पुलिस ने पकड़, मूसल की मार दे मार डाला।

(नौवाँ पूर्वभव)

मरुभूति का जीव मरकर, शल्य वन में बज्रघोष नामक हाथी हुआ और वह कमठ, तीव्र कषाय के परिणामों से मरकर भयंकर सर्प हुआ। वहाँ महाराज अरविन्द ने जब मरुभूति का मरण सुना तो उन्हें वैराग्य हो गया। वे दीक्षा लेकर वन में

तपस्या करने लगे। एक बार मुनि अरविन्द, मुनिसंघ के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा को जा रहे थे। रास्ते में सायंकाल मुनिराज सामायिक करने बैठे थे, इतने में मरुभूति का जीव हाथी, वन में घूमता हुआ मुनिराज के समीप पहुँचा। मुनिराज को देखकर हाथी को पूर्वभव का स्मरण हो आया, जिससे वह शान्तचित्त होकर मुनि के चरणों में बैठ गया। मुनिराज ने भी अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि यह मरुभूति का जीव है और भावी तीर्थंकर है। मुनिराज ने उसको धर्मोपदेश दिया, तब हाथी ने सम्यग्दर्शनसहित पंचाणुव्रत धारण कर लिए। अब वह सूखे पत्ते खाकर शान्ति से काल व्यतीत करने लगा। एक दिन वह हाथी, पानी पीने के लिये तालाब में जा रहा था कि कीचड़ में उसका पैर धँस गया। तब कमठ के जीव, सर्प ने, उसे डस लिया। हाथी उत्तम भावों से मरकर बारहवें स्वर्ग में शशिप्रभ देव हुआ। कमठ का जीव, मरकर पाँचवें नरक में गया।

(आठवाँ पूर्वभव)

नरक से निकलकर कमठ का जीव विशालकाय अजगर हुआ और मरुभूति (पार्श्वनाथ) का जीव विदेहक्षेत्र में अग्निवेग नाम का राजकुमार हुआ। बहुत दिनों तक राज्यसुख भोगकर एक दिन मुनि-दर्शन करके, राजकुमार युवा अवस्था में ही दीक्षित होकर मुनि बन गया। एक दिन ये मुनिराज ध्यान में बैठे थे, उसी समय पूर्व बैर के कारण वह अजगर वहाँ आया और ध्यानस्थ मुनिराज को निगल गया। मुनिराज आराधनापूर्वक मरकर सोलहवें स्वर्ग में गए और अजगर मरकर छठवें नरक में गया।

(सातवाँ पूर्वभव)

स्वर्ग और नर्क से निकलकर दोनों जीव, मनुष्य हुए। मरुभूति का जीव विदेहक्षेत्र में बज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ और कमठ का जीव, भील हुआ। चक्रवर्ती, क्षेमंकर मुनि से मुनिदीक्षा लेकर आत्मसाधना करने लगे। एक दिन मुनिराज, पर्वत पर ध्यान कर रहे थे। इतने में कमठ का जीव वह भील आया और उसने मुनिराज को देखकर तीरों से उनके शरीर को छेद डाला। जिससे मुनि समाधिपूर्वक देह छोड़कर, मध्यम ग्रैवेयिक में 27 सागर की आयु लेकर अहमिन्द्र हुए और वह भील सरदार, सातवें नर्क में 27 सागर की आयुवाला नारकी हुआ।

(छठवाँ पूर्वभव)

(पाँचवाँ पूर्वभव)

मरुभूति (पार्श्वनाथ) का जीव, ग्रैवेयिक से निकलकर, अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार नामक महामण्डलीक राजा हुआ तथा कमठ का जीव, सिंह हुआ। राज्य-सुख भोगते हुए एक दिन अपना श्वेत बाल देखकर राजा को वैराग्य हो गया। उन्होंने दीक्षा लेकर सोलह कारण भावनाओं की आराधना की, जिससे उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हुआ। एक दिन मुनिराज अपने आत्मध्यान में मग्न थे, इतने में कमठ के जीव सिंह ने आकर मुनि के शरीर का भक्षण कर लिया, जिससे मरुभूति का जीव, आनन्द मुनि चौदहवें प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हुआ और कमठ का जीव पाँचवें नरक में गया।

मरुभूति के जीव ने स्वर्ग से चयकर, काशी नरेश महाराज अश्वसेन और माता वामादेवी के यहाँ तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लिया। कमठ का जीव, नरक से निकलकर त्रसपर्याय में घूमता हुआ, महीपालपुर का महीपाल नामक राजा हुआ। महीपाल पार्श्वनाथ के नाना थे। कुछ दिनों बाद महीपाल तापसी साधु बनकर पंचाग्नि तप कर रहा था। वहीं पर पार्श्वकुमार, वन विहार करते हुए आ पहुँचे। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि एक लकड़ी में नाग-नागिनी जल रहे

(चौथा पूर्वभव)

हैं। तब दया से प्रेरित होकर पार्श्वकुमार ने उस तापसी से कहा - अरे तपस्वी! इस लकड़ी के साथ नाग-नागनी भस्म हुए जा रहे हैं। इनको शीघ्र ही बचा लो, अन्यथा ये दोनों मर जाएँगे। तुम हिंसा कर रहे हो और अपने को तपस्वी मानते हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है! कुमार की बात सुनकर तापसी क्रोध से भभक पड़ा। उसने रोष में आकर लक्कड़ को फाड़ा तो देखता है कि सचमुच अन्दर से अर्धदग्ध सर्प युगल निकले। पार्श्वकुमार ने दयाभिभूत होकर उनको संबोधन दिया। वे नाग युगल शुभपरिणामों से

(तीसरा पूर्वभव)

मरकर, धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। तापसी महीपाल मरकर कुतप के प्रभाव से संवर नामक ज्योतिषी देव हुआ।

कुमार पार्श्व को सांसारिक भोगों में कोई रुचि नहीं थी। वे महलों में रहकर भी वैरागी थे। उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन किया

(दूसरा पूर्वभव)

और मुनि-दीक्षा ले ली। इस समय पार्श्व की आयु तीस वर्ष थी। एक दिन मुनिराज पार्श्व सात दिन का ध्यानयोग धारण करके कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े थे। उस समय संवर नामक देव का विमान जा रहा था। उस स्थान पर आकर विमान रुक गया, संवरदेव ने नीचे एक मुनि को तप करते हुए देखकर यह सोच लिया कि इन्हीं मुनि ने मेरा विमान रोका है। पूर्वभव का क्रोध जागृत हो गया। उसने मुनिराज पार्श्व पर निरन्तर सात दिवस तक नाना उपसर्ग किये। वे मुनिराज क्षमाभाव धारणकर शान्तिपूर्वक उपसर्ग सहन करते रहे। मुनिराज पार्श्व पर उपसर्ग देखकर धरणेन्द्र ने देवी पद्मावतीसहित सेवा में उपस्थित होकर, उपसर्ग-निवारण का प्रयत्न किया। पार्श्व मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। यह शुभदिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी का था। जिस स्थान पर यह घटना घटी, वह 'अहिच्छत्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

पार्श्वनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने पर, उनके लिए समवसरण की रचना हुई। वहाँ धरणेन्द्र और पद्मावती देवी ने पार्श्वनाथ की स्तुति की। संवरदेव (कमठ का जीव) भी समवसरण में उपस्थित था। वहाँ केवली पार्श्वनाथ के अमृत-सदृश उपदेश सुनकर उसके कलुषित-हृदय के समस्त कषाय स्वत: झर गए। वह पार्श्वनाथ से अपने अपराधों की क्षमा माँगता हुआ आत्मविभोर होकर स्तुति करने लगा।

भगवान पार्श्वनाथ ने भारत-भूमि के कोने-कोने में विहार किया। अनेक वर्षों तक देश-देशान्तर में उपदेश करते हुए, अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अघाति-कर्म का क्षय किया। वे 100 वर्ष की आयु पूर्ण होने के पश्चात्, शरीर त्यागकर महा-आनंदरूप सिद्धपद में आरूढ हो गए। वह दिन श्रावण शुक्ल सप्तमी का था। यह दिन मोक्ष-सप्तमी के रूप में जाना जाता है। इसे मुकुट सप्तमी भी कहते हैं।

आज सम्मेदशिखरपर्वत, 'पारसनाथ हिल' के नाम से प्रसिद्ध है। स्थानीय लोग इसे 'मधुवन' कहते हैं। इस पर्वत की पर्वतमालाएँ दूर-दूर लगभग 40 वर्ग कि०मी० क्षेत्र में फैली हुई हैं। यहाँ से चौबीस तीर्थंकरों में से 20 तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्त किया है।

(वर्तमान भव)

इसके अलावा असंख्य जैन-मुनियों ने भी इस क्षेत्र से सिद्धपद पाया है; अत: यह क्षेत्र जैन-धर्मावलम्बियों के लिए पावन एवं श्रद्धा का केन्द्र है।

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का मोक्ष स्थल ऊँचाई पर है। वहाँ एक विशाल-मन्दिर निर्मित है। अन्य 19 तीर्थंकरों के मोक्ष-स्थलों पर, उनके चरण-चिह्न बने हुए हैं। जिस शुभ दिन / श्रावण शुक्ल सप्तमी को पार्श्वनाथ ने मोक्ष प्राप्त किया था, उस दिन श्रद्धालुगण मन्दिर-प्रांगण में एकत्रित होकर निर्वाण-महोत्सव मनाते हैं।

मान्यता है कि इस तीर्थराज की एक बार भी भावसहित वन्दना करने से नरकगति एवं पशुगति से मुक्ति मिल जाती है।

भावसहित वन्दे जो कोई।
ताहि नरक-पशुगति नहिं होई॥

(श्री पार्श्व प्रभु पर संवरदेव द्वारा घोर उपसर्ग)

प्रश्न -

1. भगवान पार्श्वनाथ का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए।
2. 'सम्मेदशिखर' पर नोट लिखें।
3. मुकुट सप्तमी क्या है ?
4. धरणेन्द्र, पद्मावती कौन थे ?
5. भगवान पार्श्वनाथ के जीवन से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

पाठ 8

अकृत्रिम जिन-चैत्यालय

भव्य – आज पूजन में लोग गा रहे थे – 'त्रैलोक्य के कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय जजूँ।....' ये कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय क्या हैं ?

प्रबोध – बहुत अच्छा! किसी भी पूजन को पढ़ते समय, अर्थ समझना जरूरी है। **'होनहार विरवान के होत चीकने पात'** – आपकी योग्यता अच्छी है। सुनो... जो हम -तुम नवीन निर्माण करके मन्दिर बनाते हैं, वे तो कृत्रिम हैं।

भव्य – तो क्या हम कृत्रिम चैत्यालयों के ही दर्शन करते हैं ?

प्रबोध – हाँ! अकृत्रिम चैत्यालय तो अनादि-निधन रचनाएँ हैं। उन्हें किसी ने बनाया नहीं है। उनके दर्शन भी देव, विद्याधर, ऋद्धिधारी मुनियों को तथा पुण्यशाली मनुष्यों को ही सम्भव हैं।

भव्य – क्या इन अकृत्रिम चैत्यालयों की कोई विशेष महिमा है ?

प्रबोध – हाँ, इनका अतिशय तो एक प्रकार से, तीर्थंकरों से अधिक है; क्योंकि तीर्थंकर तो सीमित काल तक ही प्रभावना कर सकते हैं, पर ये तो अनादि से तथा अनन्त काल तक प्रभावना में कारणभूत होंगे।

भव्य – ये हैं कहाँ ?

प्रबोध – आपको याद होगा, हमने पढ़ा था कि अष्टाह्निका पर्व में, देव आठवें नन्दीश्वरद्वीप जाकर, वहाँ स्थित 52 अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करते हैं।

भव्य – हाँ-हाँ, याद आया।

प्रबोध – उसी प्रकार सुमेरुपर्वत पर 16 अकृत्रिम चैत्यालय हैं और ऐसे और चार मेरु सम्बन्धी 16-16, इस प्रकार पंचमेरु सम्बन्धी 80 जिन चैत्यालय हुए।

एक मेरुसम्बन्धी चार गजदन्त हैं, इस प्रकार पंच मेरु सम्बन्धी 20 गजदन्त हुए। इन सबकी गिनती हम तालिका द्वारा देखते हैं –

जम्बूद्वीप में अकृत्रिम चैत्यालय (७८)

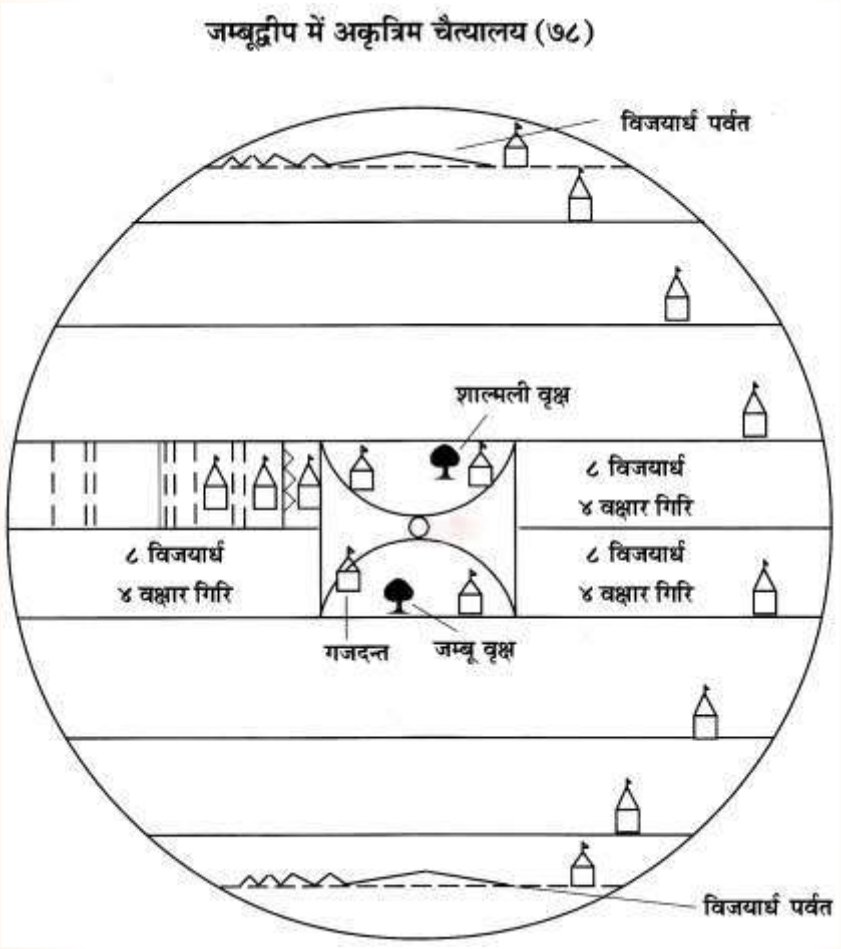

एक मेरु सम्बन्धी अकृत्रिम जिन चैत्यालय

मेरु पर स्थित	16
कुलाचल	6
गजदन्त	4
विजयार्ध	34
वक्षारगिरि	16
जम्बू वृक्ष	1
शाल्मली वृक्ष	1
कुल	**78**

इस प्रकार पंच मेरु सम्बन्धी 78× 5 = 390 अकृत्रिम चैत्यालय हुए।

भव्य – इतने सारे अकृत्रिम चैत्यालय.....! कह....!!

प्रबोध – और भी सुनो –

पंचमेरु सम्बन्धी (उपर्युक्त)	390
इष्वाकार पर्वत सम्बन्धी	4
मानुषोत्तर पर्वत सम्बन्धी	4
नन्दीश्वर द्वीप सम्बन्धी	52
कुण्डलवर द्वीप (11वें द्वीप) सम्बन्धी	4
रुचकवर द्वीप (13वें द्वीप) सम्बन्धी	4
कुल	**458**

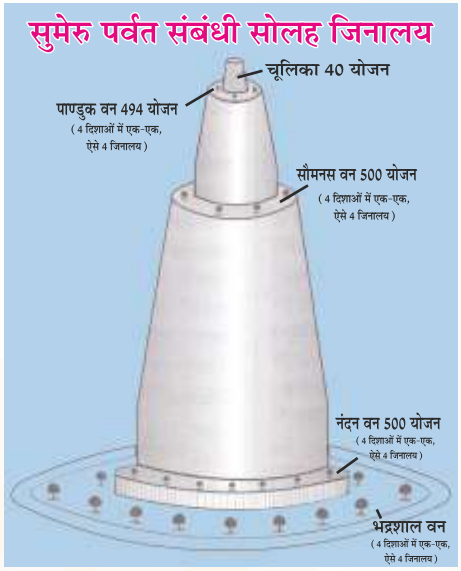

भव्य – वाह! 458अकृत्रिम चैत्यालय ?

प्रबोध – अरे भाई, ये तो मात्र मध्यलोक सम्बन्धी हैं।

अधोलोक में 7,72,00,000 हैं और ऊर्ध्वलोक में 84,97,034 हैं। कुल मिलाकर तीन लोक के 8,56,97,481 अकृत्रिम चैत्यालय हैं। व्यन्तर और ज्योतिषी देवों सम्बन्धी तो असंख्यात जिनमन्दिर हैं।

भव्य – कितने पुण्यशाली हैं वे लोग!

प्रबोध – अरे भाई! हमारे पुण्य में कौन सी कमी है ? यहाँ पर भी तो सभी निमित्त आ मिले हैं। वहाँ पर भी अपने पुरुषार्थ से ही सम्यक्त्व होता है। यहाँ पर भी यदि हम पुरुषार्थ करें, तो हमें भी सम्यक्त्व हो जाएगा।

प्रश्न –

1. कृत्रिम तथा अकृत्रिम चैत्यालयों में क्या अन्तर है ?
2. कुल कितने अकृत्रिम चैत्यालय हैं ?
3. अकृत्रिम चैत्यालयों की क्या विशेषता है ?

भोग से योग की ओर....

को गुणः खलु धर्मेण मा पृच्छैवं कदाचन।
शिविका वाहकान् दृष्टवा तत्पश्चातारूढं भूपतिम्॥

अर्थात् मत पूछो कि धर्म से क्या लाभ है ? बस एक बार पालकी उठानेवाले कहारों (देवताओं) की ओर देखो फिर उस आदमी को देखो जो पालकी पर सवार है।

पाठ 9

अपनी वैभवगाथा

'सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातैं भए कंगाल, गाँठ खोल देखी नहीं।'

प्रकृति की सभी वस्तुएँ वैभवशाली हैं, शक्तिशाली हैं। इसका प्रमाण यह है कि आज तक किसी भी द्रव्य को अपना काम करने के लिए, अन्य द्रव्य की आवश्यकता नहीं पड़ी। 'हम दूसरों को सुखी कर सकते हैं' यह अपना वैभव नहीं है, न हम दूसरों को सुखी कर ही सकते हैं। 'कोई हमें दुःखी नहीं कर सकता' - यह हमारा वैभव है। कोई हमें सुखी कर सकता हो, तो इसमें हमारा वैभव, बड़प्पन क्या रहा? अनादि-निधन सभी वस्तुएँ अपनी मर्यादा में रहते हुए परिणमन करती हैं। कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है। यह लोक का नैसर्गिक तथा अकृत्रिम सौन्दर्य है। मङ्गलार्थी भाईयो! इस पाठ में सामान्य तथा विशेषगुणों का परिचय करेंगे।

जीव, अनन्त हैं; उनसे अनन्तगुणे पुद्गल हैं; उनसे अनन्तगुणे काल-द्रव्य के समय हैं; उनसे अनन्तगुणे आकाशद्रव्य के प्रदेश हैं और उस अनन्त से अनन्तगुणे, एक द्रव्य में गुण हैं। गुण अर्थात् Property। गाड़ी, मकान, यह हमारी Property नहीं है। हमारे गुण, हमारी Property है, सम्पत्ति है, वैभव है।

हमने देखा था, जो द्रव्य के सभी भागों (प्रदेशों) में तथा सभी अवस्थाओं (पर्यायों) में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं। गुणों को दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं - सामान्यगुण और विशेषगुण।

सामान्यगुण - जो गुण, सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्यगुण कहते हैं। गुण तो सदा अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं; परन्तु उनमें से ही कुछ गुण ऐसे हैं कि उनका जो नाम, काम या स्वभाव है; उन्हीं नाम, काम या स्वभाववाले गुण अपने-अपने प्रत्येक द्रव्य में भी पाए जाते हैं। इस प्रकार कुछ गुण सभी द्रव्यों में एक समान पाए जाने के कारण, **सामान्यगुण** कहलाते हैं। संख्या-अपेक्षा ये गुण प्रत्येक द्रव्य में अनन्त रहते हैं। सभी गुण बराबर की सामर्थ्य तथा हैसियत से रहते हैं। कोई गुण बड़ा-छोटा नहीं है, फिर भी अनन्तों को न समझाना सम्भव है, न समझना; क्योंकि केवली भी अनन्त काल तक, प्रति समय बखान करें तो भी आत्मा के अनन्त गुणों का पार नहीं आता है। आत्मकल्याण के लिए अनन्त गुणों को समझना जरूरी भी नहीं है; अतः विशेष प्रयोजनभूत ऐसे छह सामान्य (साधारण) गुणों को हम समझते हैं।

अस्तित्व – जब हमें कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के सम्बन्ध में समझाना चाहता है, तब हमारा सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि वह पदार्थ है भी कि नहीं। यदि वह पदार्थ वास्तविक न हो, तो शेखचिल्ली के सपनों- जैसी बातों में उलझने के लिए हमारे पास समय नहीं है।

इस शंका के समाधान हेतु आचार्यदेव ने सर्व प्रथम अस्तित्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि हम तुम्हें **जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिससे उसकी सत्ता अनादि-अनन्त शाश्वत रहती है। इसके कारण पदार्थ वास्तविक वस्तु है; काल्पनिक नहीं।**

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता है, वह किसी से उत्पन्न भी नहीं होता, उस शक्ति को अस्तित्वगुण कहते हैं। अस्ति = है / विद्यमान / मौजूद; त्व = पना अर्थात् जिस गुण के कारण वस्तु का होनापना, मौजूदगी है, वह अस्तित्वगुण है। **अहो! मैं तो अनादि-अनन्त शाश्वत वस्तु हूँ। मेरा कभी मरण नहीं होता; अतः मैं निर्भय हूँ।**

वस्तुत्व – अस्तित्वगुण समझकर हमारा प्रश्न यह होता है कि ठीक है, वह पदार्थ वास्तविक सही; परन्तु जगत में ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं, जो वास्तविक होने पर भी व्यर्थ होते हैं; यदि आपके द्वारा बताया जानेवाला पदार्थ भी ऐसा ही व्यर्थ हुआ तो उसे समझने के लिए हमारे पास समय नहीं है।

इस शंका के समाधान हेतु आचार्यदेव ने वस्तुत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि हम तुम्हें जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें वस्तुत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, **जिसके कारण पदार्थ कभी व्यर्थ होता ही नहीं। वह सदा अपने लिए पूर्ण सार्थक, प्रयोजनभूत कार्य ही करता है; वह कभी निरर्थक, बेकार नहीं होता।**

जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व विद्यमान है, प्रयोजनभूत क्रिया होती है, उस शक्ति को वस्तुत्वगुण कहते हैं। अर्थ = प्रयोजन; क्रिया = कार्य; कारि = करनेवाला; त्व = भाव अर्थात् प्रयोजनभूत कार्य करने की शक्ति।

अहो! मेरा कार्य किसी और से, और किसी और का कार्य मेरे से नहीं होता; अतः मैं निर्भार हूँ।

द्रव्यत्व – वस्तुत्वगुण समझकर, हमारा प्रश्न यह होता है कि हमें तो नित्य नया-नया चाहिए, पुरानी वस्तु हमें पसन्द नहीं आती है।

इसके उत्तर में आचार्यदेव ने द्रव्यत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि हम जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक द्रव्यत्व नामक ऐसा गुण विद्यमान है, जिसके कारण उसमें प्रति समय नया-नया कार्य ही होता रहता है; पुरानेपन के लिए उसमें कहीं अवकाश ही नहीं है। **इस गुण के कारण कोई भी कार्य, एक समय भी पुराना नहीं होता है।**

जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्थाएँ निरंतर बदलती रहती हैं, उसे द्रव्यत्वगुण कहते

हैं। द्रव्य = बहना / परिणमन करना / बदलना; त्व = भाव / पना अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय नई-नई पर्यायें होते रहना।

अहो! मेरी पामर अवस्था, संसार अवस्था, कल नहीं रहेगी तथा आज का दुःख कल नहीं रहेगा; अतः मैं निश्चिंत हूँ।

प्रमेयत्व - द्रव्यत्वगुण समझकर, हमारी शंका यह होती है कि यह सब तो ठीक है; परन्तु हमारे पास अधिक समय, शक्ति या बुद्धि नहीं है। आपके द्वारा समझाया जानेवाला पदार्थ यदि हमारी समझ में नहीं आया तो ?

इसके समाधान में आचार्यदेव ने प्रमेयत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि हम जिस पदार्थ को समझाना चाहते हैं, उसमें एक प्रमेयत्व नामक गुण विद्यमान है। **यदि हम उसे समझने के लिए थोड़ा सा भी पुरुषार्थ करेंगे, तो वह अवश्य ही समझ में आ जाएगा।**

जिस शक्ति के कारण, द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य बनता है, उसे प्रमेयत्वगुण कहते हैं। प्र = प्रकृष्टरूप से; मेय = ज्ञेय / जानने-योग्य; त्व = भाव / पना। कोई पदार्थ ज्ञान से छिप ही नहीं सकता।

अहो! आबाल[1]-गोपाल[2] सबको सदा काल अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा, अनुभव में आ ही रहा है; अतः मैं निराकुल हूँ।

अगुरुलघुत्व - प्रमेयत्वगुण समझकर, हमें प्रश्न होता है कि पदार्थ में इतनी विशेषताएँ होने के कारण हम उसे समझने को तैयार हैं; परन्तु ये विशेषताएँ बाद में नष्ट हो गईं तो ?

इसके समाधान में आचार्यदेव ने अगुरुलघुत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में अगुरुलघुत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिससे पदार्थ जैसा है, सदा वैसा ही बना रहता है; उसका वैभव रंचमात्र हीनाधिक नहीं होता है।

जिस शक्ति के करण, द्रव्य का द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है; एक गुण दूसरे, गुणरूप नहीं होता है तथा द्रव्य के अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते, उस शक्ति को अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं। अ = नहीं; गुरु = बड़ा; लघु = छोटा; अर्थात् जिसके कारण द्रव्य बड़ा तथा छोटा नहीं होता; एक रूप ही बना रहता है, उसे अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं।

अहो! मुझमें लाभ-हानि नहीं होती; अतः मैं सुख-दुःख से रहित, ज्ञानमयी हूँ।

प्रदेशत्व - अगुरुलघुत्वगुण समझकर हमारी शंका यह होती है कि भले ही पदार्थ स्वयं से नष्ट-भ्रष्ट न हो, पर हमारे शत्रु कोई कम थोड़े ही हैं। यदि उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तो ?

---

1. मन्द से मन्दबुद्धिवाला जीव (से लेकर); 2. केवलज्ञानी (तक)।

इसके समाधान में आचार्यदेव ने प्रदेशत्वगुण बताया है। वे कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में प्रदेशत्व नामक एक ऐसा गुण विद्यमान है, जिसके कारण किसी दूसरे का उसमें प्रवेश ही संभव नहीं है। उसमें प्रवेश किए बिना, वह पदार्थ को नष्ट कैसे कर सकता है ? नहीं कर सकता है।

जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसे प्रदेशत्व (प्रदेशवत्त्व) गुण कहते हैं। प्रदेश = क्षेत्र; वत् = वाला; त्व = भाव। प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वक्षेत्र है।

अहो! मेरे बज्रमयी आत्मकिले में परवस्तु का प्रवेश असम्भव है; अतः मैं पूर्ण सुरक्षित हूँ।

इस प्रकार हमने छह सामान्यगुण समझे।

विशेषगुण - जो गुण, सभी द्रव्यों में न रहकर, अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं, उन्हें विशेषगुण कहते हैं।

वैसे तो सभी गुण अपने-अपने द्रव्य में ही रहते हैं; परन्तु उनमें से ही कुछ गुण ऐसे हैं कि उनका जो नाम, काम या स्वभाव है; उन्हीं नाम, काम, स्वभाववाले गुण, भिन्न जातिवाले द्रव्यों में नहीं पाए जाते हैं; मात्र किसी एक जाति के द्रव्य में ही पाए जाते हैं। इस प्रकार वे गुण सभी में न पाए जाने के कारण, **विशेषगुण** कहलाते हैं। संख्या अपेक्षया ये गुण भी प्रत्येक द्रव्य में अनन्त होते हैं।

विशेषगुणों के माध्यम से वस्तु का पृथक्त्व सिद्ध होता है। विश्व में जाति अपेक्षा से छह द्रव्य हैं, इसकी सिद्धि विशेषगुणों के माध्यम से होती है। पर पदार्थों से भेदज्ञान के कारणभूत, ये (विशेषगुण) ही हैं। जैसे -ज्ञान, दर्शन, ये आत्मा के विशेषगुण हैं।

मङ्गलार्थियो! हमारा ऐसा अनन्त वैभव होने पर भी, जब तक हम इस सत्य को स्वीकार नहीं करते, तब तक पर्याय में यह वैभव प्रगट नहीं होता और कंगाली बनी रहती है। सम्पन्न होने का उपाय, इस अनन्त वैभव की स्वीकृति ही है।

प्रश्न -

1. गुण किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के हैं ?
2. एक द्रव्य में कितने गुण होते हैं, यह तारतम्य से बताएँ।
3. सामान्यगुणों में छह गुणों का ही वर्णन क्यों किया गया है ?
4. सामान्यगुण तथा विशेषगुण में अन्तर स्पष्ट करें।
5. निम्न गुणों पर नोट लिखें -
   (1) अस्तित्व, (2) अगुरुलघुत्व, (3) प्रदेशत्व, (4) वस्तुत्व।

पाठ 10

जैनशासन का वैभवशाली इतिहास

मङ्गलार्थियो! जैनशासन अनुल्लंघ्य है अर्थात् वादी-प्रतिवादी, किसी भी तर्क या युक्ति से जैनशासन के किसी भी कथन को चुनौती देने में समर्थ नहीं हैं; अतः जैनशासन अस्खलित भी है। जैनशासन की निर्दोषता के साथ-साथ, इसकी उदारता का मुकाबला भी असम्भव है; क्योंकि यहाँ पर प्रत्येक जीव को, भगवान बनने का प्रावधान है। जैनशासन में वीरता तथा शूरता के दर्शन भी कदम-कदम पर होते हैं। यह तो सर्वसंग-परित्याग का शासन है, ऐसे में कोई अपनी सम्पत्ति को धर्मी, धर्मायतन के लिए न्यौछावर कर दे, यह तो साधारण बात है। इस पाठ में हमें कुछ ऐसे महापुरुषों की गाथाएँ देखने को मिलेंगी, जिसको लेकर हमें जैनशासन की महिमा द्विगुणित होगी।

सेठ सुगनचन्द

यह जो हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर खड़ा हुआ गगनचुम्बी, विशाल, शुद्ध तेरापंथी दिगम्बर जैन मन्दिर; जिस पर स्वच्छ, धवल पताका फहरा रही है, कब और कैसे बना ?

दिल्ली के सेठ सुगनचन्दजी की आन्तरिक अभिलाषा थी कि हस्तिनापुर जैसे प्राचीन जैन तीर्थस्थान में एक जैन मन्दिर बनवाकर तीर्थक्षेत्र का पुनरुद्धार किया जाए; किन्तु उन दिनों जैन मन्दिर बनवाना बहुत कठिन था। एक ओर मुसलमानी बादशाहत, मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा नहीं देती थी; दूसरी ओर कुछ धर्मान्ध और ईर्ष्यालु हमारे पड़ोसी भी जैनों का विरोध करते थे। वे विरोधी भावनाएँ आज इस संगठन और स्वतन्त्रता के युग में भी बहुत कुछ अवशिष्ट हैं। कितने ही स्थानों पर अब भी जैनमन्दिर बनवाने और रथयात्राएँ निकालने में रुकावटें आती हैं और सैकड़ों स्थानों पर लाखों रुपया व्यय करके, अदालतों द्वारा रथयात्राओं के अधिकार प्राप्त हुए हैं।

अतः तब की तो बात ही निराली थी। सेठ साहब की मनोभिलाषा को मीरापुर के रागड़ (एक जाति विशेष), पूरी नहीं होने देते थे। वे मरने-मारने पर तुले हुए थे। उन दिनों हस्तिनापुर, साढौरा स्टेट में सम्मिलित था।

भाग्य की बात, दुष्काल पड़ने पर, महाराजा साढौरा को एक लाख रुपये की जरूरत पड़ी। सेठ सुगनचन्दजी साहूकारी के लिए काफी विख्यात थे; अतः सब ओर से निराश होकर महाराजा साढौरा ने अपना दीवान, सेठ साहब के पास भेजा। सेठ साहब के संकेत पर, बगैर कोई लिखा-पढ़ी कराए ही मुनीम ने एक लाख रुपये गिन दिए।

एक वर्ष के बाद दीवान साहब, जब एक लाख रुपया ब्याज समेत वापिस देने आए तो सेठ साहब के मुनीम ने रुपया लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि 'हमारे यहाँ से महाराजा साढौरा को कभी रुपया कर्ज नहीं दिया गया।'

दीवान हैरान था कि मैं स्वयं इस मुनीम से एक लाख रुपये ले गया हूँ और फिर भी यह अनभिज्ञता प्रगट करता है। एक लाख रुपये की रकम भी तो मामूली नहीं थी, जो बही में नाम लिखने से रह गई हो। इससे तो दो ही बातें जाहिर होती हैं, या तो सेठ साहब के पास इतना रुपया है, कि कुबेर भी हार माने या इतना अन्धेर है, कि कुछ दिनों में सफाया होना निश्चित है।

आखिर दीवान साहब तंग आकर बोले – 'सेठ साहब, यह हमने माना कि आप आड़े वक्त में रुपया देकर, हमारे काम आए। मगर इसका यह अर्थ तो नहीं कि आप अपना रुपया ही न लें और उस पर भी कहा जा रहा है कि रुपया कर्ज दिया ही नहीं गया। अगर रुपया हम कर्ज न ले जाते, तो हमारे पास, आपकी तरह रुपया फालतू तो है नहीं, जो व्यर्थ में देने आते। मैं स्वयं मुनीमजी से ता. .... को रुपया उधार लेकर गया हूँ। आखिर... ?'

सेठ साहब बात को जरा सम्भालते हुए बोले – 'मुनीमजी जरा अमुक तारीख की रोकड़ बही फिर ध्यान से देखो। आखिर एक लाख रुपये का मामला है। दीवान साहब भी तो आखिर झूठ नहीं बोल रहे होंगे।'

मुनीमजी ने रोजनामचा उस तारीख का देखा तो गर्म हो गए, ताव में भरकर बोले – 'लीजिए आप ही देख लीजिए! उधार दिया हो तो पता चले। मुझे व्यर्थ में इतनी देर से परेशान कर रखा है।'

सेठ साहब और दीवान साहब ने पढ़ा तो लिखा हुआ था – दीवान साहब के हस्ते महाराजा साढौरा के पास, एक लाख रुपया हस्तिनापुर में जैनमन्दिर बनवाने के वास्ते, बतौर अमानत जमा कराया। पढ़ा तो दीवान साहब अवाक रह गए। फिर भी रुपया जमा कर लेने के लिए आग्रह किया, किन्तु सेठ साहब ने यह कहकर, रुपया जमा करने में अपनी असमर्थता प्रकट की, कि मन्दिर के नाम लिखा हुआ है तो वापिस कैसे लिया जा सकता है ? धर्म के लिए अर्पण किया हुआ, द्रव्य तो छूना भी पाप है।

लाचार दीवान साहब रुपया वापिस लेकर महाराजा के पास पहुँचे और सारी परिस्थिति समझाई और कहा कि जब अन्य उपायों से सेठ साहब मन्दिर बनवाने में असफल रहे, तो उन्होंने यह नीति अख्तियार की। अन्त में, महाराजा साढौरा ने कृतज्ञता स्वरूप रागडों को राजी करके जैनमन्दिर बनवा दिया। मन्दिर निर्माण होने पर सेठ साहब को बुलाया और हँसकर उनकी अमानत उन्हें सौंप दी।

सेठ साहब की, इस दूरदर्शिता के कारण हस्तिनापुर में आज अमर स्मारक खड़ा हुआ, श्री शान्तिनाथ आदि तीन चक्रवर्ती-तीर्थंकरों और कौरव-पाण्डव आदि की अमर गाथा सुना रहा है। हजारों नर-नारी जाकर, वहाँ की पवित्र रज, मस्तक पर लगाते हैं। सेठ साहब चाहते तो हर ईंट पर अपना नाम खुदवा सकते थे, मगर खोज करने पर भी कहीं नाम लिखा नहीं मिलता। केवल वहाँ की वायु ही उनकी सुगन्ध कीर्ति फैलाती हुई, भावुक हृदयों को प्रफुल्लित करती हुई नजर आती है।

सेठ सुगनचन्दजी और उनके पिता हरसुखरायजी ने भारत के भिन्न -भिन्न स्थानों में कोई 60-70 जैन मन्दिर बनवाए हैं।

एक नहीं अनेक किंवदन्तियाँ हैं, कहाँ तक लिखी जाएँ।

सेठ सुगनचन्दजी के पूर्वज सेठ दीपचन्दजी अग्रवाल जैन, हिसार के रईस थे। देहली बसाए जाने के समय, शाहजहाँ बादशाह के निमन्त्रण पर, वे देहली आए थे और दरीबे के सामने, चार-पाँच बीघा जमीन बादशाह द्वारा प्रदान किए जाने पर, आपने अपने 16 पुत्रों के लिए पृथक्-पृथक् महल बनवाए थे। बादशाह ने प्रसन्न होकर, सात पर्चे का (जामा, पायजामा, चादर जोड़ी, पेट, पगड़ी, सिर पर कलगी तुर्रा) खिलअत अता फरमाया था। ईस्ट इण्डिया के शासन काल तक, आपके वंशज खजांची रहे।

स्वाभिमानी सवाईसिंह संघाधिपति

वि० सं० 1893 में एक दिन बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत, दतिया की राजसभा में एक वणिक उपस्थित हुआ। उसकी वेशभूषा से वह साधारण स्थिति का प्रतीत होता था। वह दतिया राज्य का नागरिक नहीं था। राजा साहब ने, उससे उसका परिचय और राजसभा में उपस्थित होने का कारण पूछा। वणिक ने कहा - 'महाराज, मेरा नाम सवाईसिंह है और मैं चन्देरी में रहता हूँ। महाराज के दर्शनों को चला आया।'

'और भी तो कोई कारण होगा।'

'महाराज के ही राज्य में सोनागिरि है, जिसे जैन पुराणों में श्रीसिद्धक्षेत्र श्रमणगिरि बताया है। मेरी अभिलाषा, वहाँ गजरथोत्सव कराने की है।'

राजा ने एक बार फिर, वणिक की ओर ऊपर से नीचे तक और नीचे से ऊपर तक देखा। राजा मुस्कराकर बोले – 'विचार तो तुम्हारा उत्तम है, सेठ; परन्तु यह कार्य अत्यन्त व्ययसाध्य है और तुम्हारे जैसा निर्धन व्यक्ति इस कार्य को नहीं कर सकता।'

'श्रीमान की सहायता से यह कार्य कुछ कठिन नहीं है। मैं भी अपनी शक्ति भर द्रव्य लगाने का विश्वास दिलाता हूँ।'

'तुम मुझसे क्या सहयोग चाहते हो ?'

'महाराज, कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका इतनी दूर से लाना असुविधाजनक है और लाने का व्यय भी उनके मूल्य से अधिक पड़ जाता है, उन्हें श्रीमान के राज्य से लेने की आज्ञा चाहता हूँ।'

'नहीं, नहीं' राजा तमक कर बोले, 'मैं ऐसे अनियों-बनियों को कोई सुविधा नहीं दे सकता। तुम्हारा भी उपहास होगा और मेरा भी। तुम गजरथोत्सव का विचार छोड़ दो और चन्देरी लौट जाओ।'

'महाराज, मैं तो आज्ञा और सहयोग की ही आशा लेकर, आपके दरबार में हाजिर हुआ था। अस्तु, मर्जी आपकी। अब निवेदन है कि गजरथोत्सव तो कराऊँगा और आपके राज्य की किसी भी वस्तु का क्रय नहीं करूँगा।' वणिक तनकर खड़ा हो गया और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए, नमस्कार करके राजसभा से शीघ्र बाहर चला गया।

एक मास पश्चात् दतिया के राजभवन में राजा साहब सोकर उठे ही थे कि नगर निवासियों ने तुमुलनाद किया।

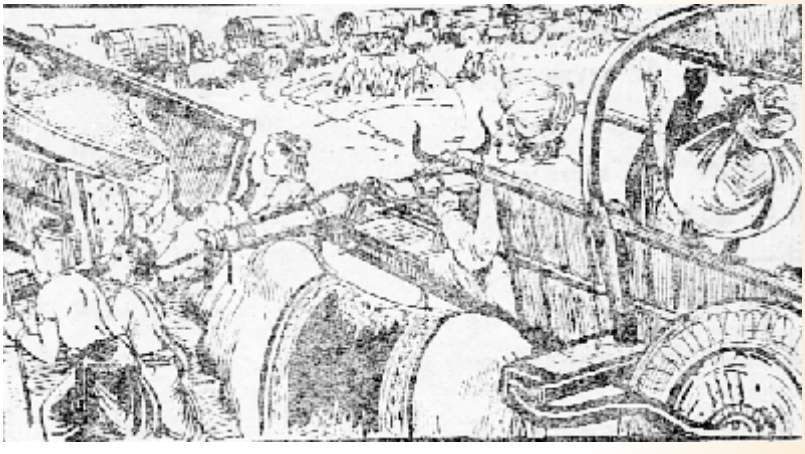

'दुहाई हो महाराज की, न जाने किस व्यापारी का माल जा रहा है कि रात भर हो गई, बैलगाड़ियों का ताँता ही नहीं टूटता। जहाँ तक दृष्टि जाती है, गाड़ियाँ ही गाड़ियाँ दिखाई पड़ती हैं, नगर से बाहर जाना असम्भव सा हो रहा है।'

'तुम लोगों ने पूछा नहीं कि किसका माल है और कहाँ जाता है ?'

एक नागरिक ने कहा – 'वे लोग कुछ बताते नहीं और गाड़ियाँ भी अच्छी तरह से बन्द हैं।'

राजा साहब ने कोतवाल को बुलवाया और आदेश दिया कि 'तुरन्त जाकर पता लगाओ कि माजरा क्या है।'

कुछ देर बाद कोतवाल एक वणिक को लेकर सेवा में उपस्थित हुआ। महाराज पहिचानकर बोले –

'तुम फिर आ गये, सेठ! यह सब क्या तुम्हारा ही है। इतना माल कहाँ लिए जाते हो?'

वणिक ने झुककर मुजरा किया और कहा – 'श्रीमान की आज्ञा हुई थी कि गजरथोत्सव के लिए कुछ सहयोग नहीं मिलेगा; इसलिए अभी केवल मिट्टी के बर्तन और दोने–पत्तलें लाया हूँ और सामान तो अभी कुछ नहीं लाया हूँ।'

'तुमने तो गजब ढा रखा है, सेठ! क्या कारोबार करते हो?'

'महाराज, मैं सवाई चौधरी मदनसिंहजी फौजदार का कामदार हूँ। चन्देरी में श्री चौबीसी मन्दिर सेवक ने ही बनवाया है। इसकी प्रतिष्ठा कराने में एक लाख रुपए खर्च करने का विचार है।'

'तुम तो सेठजी गुदड़ी के लाल निकले। अब इतना कष्ट क्यों उठाते हो। जिस वस्तु की आवश्यकता हो, हमारे यहाँ से ले लो। मैं परवाना लिखे देता हूँ। तुम जैसे स्वाभिमानी धर्मात्मा पुरुष के लिए कुछ भी अदेय नहीं है।'

'महाराज की मर्जी हो गई। अब एक मन्दिर सोनागिरि में भी बनवाऊँगा।' सवाईसिंहजी ने कहा।

सोनागिरि में मन्दिर बनने के बाद, अत्यन्त समारोहपूर्वक गजरथोत्सव संपन्न हुआ।

हम उस धर्म के धारी हैं जिस धर्म में निर्मोहीपना, जीवन का अंग बन जाता है; अतः आइए, हम भी देश, समाज, धर्मी, धर्मायतनों के प्रति कर्तव्यनिष्ठ रहें। ऋण से उऋण होने के अवसर का लाभ लें।

अपने को प्रसन्न (निर्मल) रखो

सुशीला उपन्यास का एक प्रकरण है, सुशील के पास एक स्त्री आई, तो वह उससे काम की याचना करने लगी; अभ्यागत ने समझाया, यह काम मुझसे नहीं हो सकेगा, तुम्हें अपने शील में रहना चाहिए। कामिनी ने कहा 'यदि मेरी इच्छा पूर्ण न करोगे तो हम अपना शरीर विदार लेंगे, वस्त्र फाड़ लेंगे व तुम्हें बदनाम कर तुम्हारी मिट्टी पलीत कर देंगे।' तब उसने कहा कि तुम्हारे इस मिथ्या प्रचार से लोग भले ही मुझे बुरा समझें, परंतु उनके बुरे समझने से मैं बुरा थोड़े हो जाऊँगा? यदि मैं बुरा करता हूँ तो मैं अपनी दृष्टि में बुरा हो जाऊँगा, तब यह शल्य मेरा विनाश कर देगी।

पाठ 11

बारह-भावना

'भावना भवनाशिनी, भावना भववर्धिनी।' भावनाओं से ही भवों का नाश होता है तथा भावों से ही भवों की वृद्धि होती है। संसार हो, अथवा मोक्ष, दोनों का आधार भावना है। एक अपध्यानरूपी भावना है, जिसमें समस्त आर्त और रौद्रध्यान का समावेश होता है और एक है सत्ध्यानरूपी भावना, जिसे चिन्तन कहते हैं। यह चिन्तन, रत्नत्रय का व्यापार करने के लिए नरभव की अमूल्य पूँजी है। छह द्रव्य, सात तत्त्व, संसार-मोक्ष, इहलोक-परलोक, पुण्य-पाप का शास्त्रोक्त निर्णय करने के उपरान्त शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए अथवा शुद्धोपयोगी जीव को परिपूर्ण शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए, निर्णीत विषय का बारम्बार घोलन-मनन चलता रहता है। इस अनुप्रेक्षा-आम्नाय नामक तप को ही भावना कहते हैं।

जयसेनाचार्यदेव के शब्दों में 'भावनाग्रन्थे पुनरुक्तदोषाभावात्वाद्वा' भावना ग्रन्थ में पुनरुक्ति, दोष न होकर, गुण को प्राप्त होती है। भावनाओं से वैराग्यवृद्धि होती है। इन भावनाओं को भाना, मध्यमरूप से बारह प्रकार से हो सकता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इसे संवर के कारणों के अन्तर्गत लिया है। सागार-अनगार, दोनों को प्रतिपल इन भावनाओं को भाना चाहिए।

[**पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा** का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व (संवत् 1795-1881)]

जयपुर के प्रतिभाशाली आत्मार्थी विद्वानों में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपका जन्म, जयपुर से तीस मील दूर डिग्गी-मालपुरा रोड पर स्थित फागई (फागी) ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मोतीरामजी छाबड़ा था।

ग्यारह वर्ष की अल्पायु में आपकी रुचि तत्त्वज्ञान की तरफ हो गई थी। कुछ समय बाद, आप फागई से जयपुर आ गये, जहाँ आपको महापण्डित टोडरमलजी आदि का सत्समागम प्राप्त हुआ। आपको आध्यात्मिक ज्ञान, जयपुर की तेरापंथ सैली में प्राप्त हुआ था। इसका उन्होंने इस प्रकार उल्लेख किया है :-

सैली तेरापंथ सुपंथ, तामें बड़े गुणी गुन-ग्रंथ।
तिनकी संगति में कछु बोध, पायो मैं अध्यातम सोध॥

आपके सुपुत्र पण्डित नन्दलालजी भी महान विद्वान थे। पण्डित जयचन्दजी ने स्वयं उनकी प्रशंसा लिखी है।

आपकी रचनाएँ प्राय: टीका ग्रन्थ हैं, जिन्हें वचनिका के नाम से कहा जाता है। वैसे, आपकी कई मौलिक कृतियाँ भी हैं।

देश के अनेकानेक प्रसिद्ध ज्ञानी जैन कवियों ने वैराग्य की वाणी कही जानेवाली बारह भावनाओं की रचना की है। इनमें पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित बारह-भावना तत्त्वपरक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं; अत: यहाँ इसका भावार्थसहित उल्लेख कर रहे हैं -

बारह-भावना

अनित्य	द्रव्य रूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन। द्रव्य दृष्टि आपा लखो, परजय नय करि गौन॥
अशरण	शुद्धातम अरु पंच गुरु, जग में सरनौ दोय। मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥
संसार	पर द्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध। ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध॥
एकत्व	परमारथ तैं आतमा, एक रूप ही जोय। कर्म निमित विकलप घने, तिन नासे सिव होय॥
अन्यत्व	अपने अपने सत्त्वकूँ, सर्व वस्तु विलसाय। ऐसें चितवै जीव तब, परतैं ममत न थाय॥
अशुचि	निर्मल अपना आतमा, देह अपावन गेह। जानि भव्य निज भाव को, यासों तजो सनेह॥
आस्रव	आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय-दृष्टि निहार। सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार॥
संवर	निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि। समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पाप की हानि॥
निर्जरा	संवरमय ह्वै आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय। निज स्वरूप को पायकर, लोक सिखर जब थाय॥
लोक	लोक स्वरूप विचारिकें, आतम रूप निहार। परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि॥

बोधिदुर्लभ बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥

धर्म दर्शज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥

वैराग्योत्पत्तिकाल में बारह भावनाओं का चिन्तन करनेवाले ज्ञानी आत्मा इस प्रकार विचार करते हैं :-

अनित्य द्रव्य की दृष्टि से देखा जाए तो सर्व जगत स्थिर है, पर पर्याय -दृष्टि से कोई भी स्थिर नहीं है; अत: पर्यायार्थिक नय को गौण करके द्रव्य-दृष्टि से एक आत्मानुभूति ही करने योग्य कार्य है।

अशरण इस विश्व में दो ही शरण हैं - 1. निश्चय से निज शुद्धात्मा ही शरण है और 2. व्यवहारनय से पंच परमेष्ठी। पर मोह के कारण, यह जीव अन्य पदार्थों को शरण मानता है।

संसार निश्चय से पर-पदार्थों के प्रति मोह-राग-द्वेष भाव ही संसार है। इसी कारण जीव चारों गतियों में दु:ख भोगता हुआ भ्रमण करता है।

एकत्व निश्चय से तो आत्मा एक ज्ञानस्वभावी ही है। कर्म के निमित्त की अपेक्षा कथन करते हुए, उसे अनेक विकल्पमय भी कहा है। इन विकल्पों के नाश से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

अन्यत्व प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता में ही विलास कर रहा है; कोई किसी का कर्ता-हर्ता नहीं है। जब जीव ऐसा चिन्तन करता है तो फिर पर से ममत्व नहीं होता है।

अशुचि यह अपना आत्मा तो निर्मल है, पर यह शरीर महा अपवित्र है; अत: हे भव्य जीवो! अपने स्वभाव को पहिचान कर, इस अपावन देह से नेह (ममत्व) छोड़ो।

आस्रव निश्चयदृष्टि से देखा जाए तो आत्मा केवल ज्ञानमय है। विभावभावरूप परिणाम तो आस्रवभाव हैं, जो कि नाश करने योग्य हैं।

संवर निश्चय से आत्मस्वरूप में लीन हो जाना ही संवर है। उसका कथन समिति, गुप्ति और संयमरूप से किया जाता है, जिसे धारण करने से पापों का नाश होता है।

निर्जरा ज्ञानस्वभावी आत्मा ही संवर (धर्म) मय है। उसके आश्रय से ही पूर्वोपार्जित कर्मों का नाश होता है और यह आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त करता है।

लोक — लोक (षट् द्रव्य) का स्वरूप विचार करके अपने आत्मा में लीन होना चाहिए। निश्चय और व्यवहार को अच्छी तरह जानकर, मिथ्या-भावों को दूर करना चाहिए।

बोधिदुर्लभ — ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है। वह निश्चय से दुर्लभ नहीं है। संसार में आत्मज्ञान को दुर्लभ तो व्यवहारनय से कहा गया है।

धर्म — आत्मा का स्वभाव, ज्ञान-दर्शनमय है। दया, क्षमा आदि दशधर्म और रत्नत्रय सब इसमें ही गर्भित हो जाते हैं।

प्रश्न -

1. भावना किसे कहते हैं ? उसकी क्या उपयोगिता है ?
2. निम्नलिखित भावनाओं सम्बन्धी पद्य अर्थसहित लिखिए :-
   अनित्य, एकत्व, संवर, बोधिदुर्लभ।
3. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

क्या आप जानते हैं....

जिस ग्राम को श्री तारणस्वामीजी ने धर्मप्रचार का केन्द्र बनाया था, उसी मल्हारगढ़ में तथा उन्हीं के जीवनकाल में, वहीं के एक श्रेष्ठी **जीवराज पापड़ीवाल** ने विशाल मन्दिर बनवाकर दीर्घ काय जिनबिम्बों की (भगवान पार्श्वनाथ) तथा छोटी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, वैशाख शुक्ल तीज (अक्षय तृतीया) विक्रम संवत् 1548 को की थी। मुगल शासन के द्वारा आये संकटों के समाधान हेतु हजारों जिन प्रतिमाएँ बनवाकर देश के ग्राम-ग्राम में बाँटने का श्रेय आप ही को जाता है। आपने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति धर्म प्रभावना हेतु अर्पित कर दी थी।

महाकवि रइधू मध्यकालीन महान लेखक, कवि तथा साहित्यकार थे। उन्होंने अपभ्रंश भाषा में त्रेसठशलाकामहापुरुषचरित लिखा था। यह रचना पूरी करके जब आपने अपने आश्रयदाता गुण्ठदासजी को भेंट की तो उन्होंने उसे लेते ही सिरमाथे लगाकर नाचने लगे। वहाँ के राजा के शुक्लवर्णी गजराज पर रइधू को बैठाया, उनके माथे ग्रन्थ रखा और पूरे नगर की परिक्रमा लगाई। जर्मनी के किसी विद्वान को ए. एन. उपाध्ये के ज्ञान को देखकर भी इतनी महिमा आई कि उन्होंने भी यह कहा कि 'आज वे होते तो उनको हाथी पर बैठाकर उनका सम्मान किया जाता।'

एक भरी सभा में चर्चिल ने महात्मा गाँधीजी को 'नग्न फकीर' कहकर जब व्यंग्य कसा तो उसके उत्तर के रूप में महात्मा गाँधीजी बोले - 'अभी मैं हूँ नहीं परन्तु नग्न होने की मेरी पूरी मनोकामना है।'

सरदार बल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद की सभा में जैनियों को सम्बोधित करते हुए यह कहा था 'अरे जैनियों! तुम्हारा धर्म तो बड़ा वैज्ञानिक है, तुम्हारा स्वर्णिम काल आ चुका है। यदि तुम चाहो तो विश्व के कौने-कौने में अपने जैनत्व का प्रसार कर सकते हो परन्तु तुम लोगों ने धर्म का सही स्वरूप न समझकर मात्र केसरी वस्त्र पहनकर इस थाली का माल उस थाली में करने में ही धर्म की इतिश्री मानी है।'

अमूल्य तत्त्वविचार

बहु पुण्य-पुञ्ज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे! भव चक्र का, फेरा न एक कभी टला॥

सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते, सुक्ख जाता दूर है।
तू क्यों भयंकर भाव-मरण, प्रवाह में चकचूर है॥

लक्ष्मी बढी अधिकार भी, पर बढ गया क्या बोलिए।
परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धि नय पर तोलिए॥

संसार का बढना अरे! नर देह की यह हार है।
नहीं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥

निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, लो जहाँ भी प्राप्त हो।
यह दिव्य अन्तस्तत्त्व जिससे बन्धनों से मुक्त हो॥

पर वस्तु में मूर्छित न हो, इसकी रहे मुझको दया।
वह सुख सदा ही त्याज्य रे! पश्चात् जिसके दुख भरा॥

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥

इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥

किसका वचन उस तत्त्व की, उपलब्धि में शिवभूत है।
निर्दोष नर का वचन रे? वह स्वानुभूति प्रसूत है॥

तारो अरे तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिए।
सर्वात्म में समदृष्टि दो, यह वच हृदय लख लीजिए॥

धर्म और धर्मोपदेश का पात्र

जब तक हमारे चित्त से अन्याय और अभक्ष्यरूपी मलिनता दूर न होगी, तब तक हम धर्म और धर्मोपदेश के पात्र कदापि नहीं हो सकते। इस बात के धोखे में मत रहना कि हमने जैनकुल में जन्म लिया है, हम उन तीर्थङ्करों की सन्तान हैं, जो इस धर्म के अधिष्ठाता थे। यह वह अदालत नहीं है कि जहाँ खानदान के ख्याल से कुछ रियायत की जाए। यह वह सच्ची अदालत है, जहाँ 'दूध का दूध और पानी का पानी' यथार्थ निर्णय होता है, जहाँ बड़े–बड़े धनाढ्य धर्म से विमुख होने पर अचल स्थावर बना दिये जाते हैं; अत: मोह–निद्रा से जागो।

यदि आपको जैनी कहलाने का अभिमान है, यदि आप अपने को उन ऋषि और तीर्थङ्करों की सन्तान समझते हैं, जिनके उज्ज्वल चारित्र का यश दशों दिशाओं में व्याप्त हो रहा था और यदि आपको अपने जैनधर्म की उत्तमता का कुछ भी गर्व है तो सबसे पहले अपने को धर्मोपदेश का पात्र बनाओ। यह अन्याय–अभक्ष्य सेवन का कलङ्क धो डालो। क्या तुमको इस बात की कुछ भी लज्जा नहीं आती कि हम जैनी होकर माँस–मदिरा मिश्रित अस्पताल की औषधी कैसे ग्रहण करते हैं। क्या तुमको इस बात की शरम नहीं आती कि हम उत्तम कुलीन होकर वेश्या तथा परस्त्री सेवन और रात्रिभोजन किस प्रकार करते हैं।

यदि आपको धर्मोन्नति करने का कुछ भी प्रेम है तो रात्रिभोजन, मद्य, माँस, मधु, पञ्च उदुम्बर फल और सप्त व्यसन का शीघ्र ही त्याग करके अपने को धर्म और धर्मोपदेश का पात्र बनाओ। जब तक पात्र नहीं बनोगे, तब तक धर्म की प्राप्ति असंभव है।

– गुरुवर्य गोपालदास वरैया, 'उन्नति' (लेख), स्मृति–ग्रन्थ, पृष्ठ २१०

धन्य मुनिदशा

मुनि इन्द्रिय–विषयों से उपेक्षित होकर सदाकाल ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण में लीन रहते हैं। आहार के वास्ते किसी से याचना नहीं करते। भोजन के समय गृहस्थों के घर जहाँ तक किसी को जाने की मनाही नहीं है, वहाँ तक जाते हैं। बिजली के चमत्कारवत् दर्शन देकर यदि किसी ने भक्तिपूर्वक भोजनार्थ तिष्ठने के लिए प्रार्थना नहीं की तो तत्काल वापिस लौट जाते हैं। दिन में केवल एक बार ही एक स्थान में खड़े होकर अन्न–जल का ग्रहण करते हैं।

समस्त पदार्थों से ममत्वरहित केवल शरीरमात्र परिग्रहसहित नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हुए बिना सवारी पैदल पाँव अनेक देशों में विहार करते हुए भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर स्व–पर का कल्याण करते हैं। शरीर से ममत्व न होने के कारण अनेक रोग आने पर भी रोग का इलाज नहीं करते। पैर में काँटा लग जाए तो उसको भी नहीं निकालते।

पत्थर–सुवर्ण को समान समझते हैं, स्तुति तथा निन्दा करनेवालों को समदृष्टि से देखते हैं, शत्रु और मित्र जिनके लिए समान हैं। यदि कोई दुष्ट आकर उनको कष्ट देवे तो समभाव धारण करके ध्यान में लीन हो जाते हैं और जब तक वह उपसर्ग दूर नहीं हो, तब तक उस स्थान से नहीं उठते।

केश–लुञ्चन अपने हाथों से करते हैं। दन्त–धोवन तथा स्नान की तरफ जिनका कभी उपयोग ही नहीं जाता। ध्यान में ही जिनका समस्त काल व्यतीत होता है। कदाचित निद्रा की बाधा होने पर भूमि पर किञ्चित् काल के लिए शयनकर पुन: ज्ञान–ध्यान में लीन हो जाते हैं।

– गुरुवर्य गोपालदास वरैया 'सार्वधर्म' (लेख), स्मृति–ग्रन्थ, पृष्ठ २४१

तीर्थधाम चिदायतन

निर्माणाधीन तीर्थधाम चिदायतन के विशाल संकुल में स्थापित,
श्री शान्तिनाथ अस्थायी जिनालय के दर्शन हेतु अवश्य पधारें।

पंजीकृत कार्यालय :
श्री शान्तिनाथ-अकम्पन-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट,
'विमलांचल', हरीनगर, अलीगढ़-202001 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: 0571-2410010 / 11 / 12
E-mail: info@mangalayatan.com | www.mangalayatan.com

निर्माण-कार्यालय एवं स्वागत कक्ष :
तीर्थधाम चिदायतन
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: +91 9412749670 E-mail: info@chidayatan.com | www.chidayatan.com

निर्माणस्थल :
तीर्थधाम चिदायतन
दूसरी नसियाँजी से आगे,
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
(सम्पर्क : +91 9837079003, श्री मुकेशचन्द जैन, मेरठ)

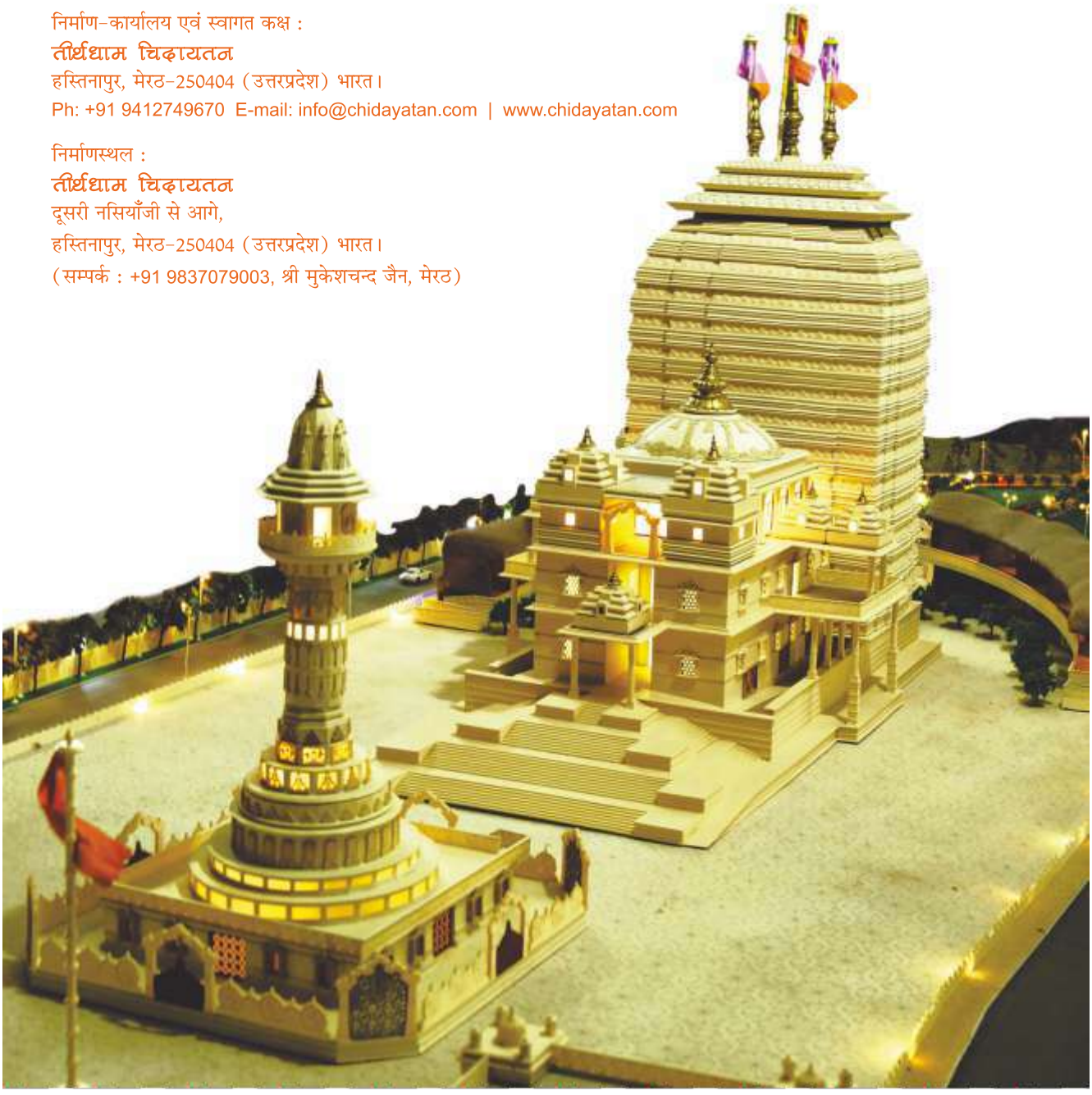

भारत में उत्तरप्रदेश प्रांत की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१ वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन संकुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थ धाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल:

- कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाणस्थलियां-
- कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुर, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
- भगवान महावीर मन्दिर
- भगवान बाहुबली मन्दिर
- पंडित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केंद्र
- आचार्य समन्तभद्र आत्मचिंतन केंद्र
- धन्य मुनिदशा
- आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
- भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

मङ्गल प्रकल्प:

email : info@mangalayatan.com
website: www.mangalayatan.com

मूल्य 30/-